आवरण पर छपे मूर्तिफलक के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य है, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। उनके नीचे बैठा मुंशी व्याख्या का दस्तावेज लिख रहा है। भारत में लेखन-कला का यह संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई०

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

काका कालेलकर

साहित्य अकादेमी

अनुक्रम

परिशिष्ट : चयन

प्रस्तावना

अपनी संक्षिप्त आत्म-कथा 'बढ़ते कदम' में काका साहब ने लिखा है—

"10 अप्रैल, 1917 के दिन चम्पारण जाते हुए रास्ते में बड़ौदा स्टेशन पर पूज्य बापू जी मुझे मिले और बोले, 'अभी-अभी मैंने आश्रम खोला है। इसलिए मुझे सारा समय आश्रम को देना चाहिए था किन्तु सेवा-कार्य के लिए बाहर से निमन्त्रण आते हैं। उनको मना कैसे करूँ। इसलिए मैं चम्पारण जा रहा हूँ। आप अनुभवी हैं। शान्तिनिकेतन में आश्रमवासियों के साथ आप ठीक-ठीक मिल-जुल गए हैं, इसलिए आप पूरे घर के ही हैं। आप यदि आश्रम जाकर रहें तो मैं निश्चिन्त रहूँगा।' मैं मान गया और आश्रम का हो गया और सब कामों में रस लेने लगा।"

काका साहब के आने के तुरन्त बाद जून मास में सत्याग्रह आश्रम कोचरब से हटकर साबरमती पहुँच गया। उसी के साथ आश्रम की शाला को भी नया रूप दिया गया। काका साहब तब तक शिक्षक के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। इसलिए शिक्षक-मण्डल के महत्त्वपूर्ण सदस्य बन गये। शाला का संचालन भी बारी-बारी से शिक्षक-मण्डल के सदस्यों को करना पड़ता था। काका साहब को इस क्षेत्र में भी अभूतपूर्व सफलता मिली।

लेकिन नियति ने तो इनके लिए कोई और ही काम निश्चित कर रखा था। गांधी जी उस बात को जानते थे। शान्तिनिकेतन में काका साहब को देखते ही वे पहचान गये थे कि यह मेरा आदमी है और शायद यह भी सोच लिया था कि इनसे क्या काम लेना है।

संयोग देखिये इसी वर्ष भड़ौच में गुजरात शिक्षा परिषद् का दूसरा अधिवेशन हुआ। गांधी जी उनके अध्यक्ष चुने गये। उन्होंने काका साहब से कहा कि इस शिक्षण परिषद् में आप जरूर उपस्थित रहिए और इसके लिए एक निबन्ध भी लिखिए, "हिन्दी ही इस देश की राष्ट्रभाषा हो सकती है।"

काका साहब ने गांधी जी का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और इस प्रकार

एक ओर महाराष्ट्रीय एक गुजराती के कहने पर हिन्दी के प्रति समर्पित हो गया। हिन्दी के प्रति तब तक उनका कोई विशेष लगाव नहीं था। कॉलेज में पढ़ते थे तब उनका एक साथी लोकमान्य तिलक के सुप्रसिद्ध पत्र 'केसरी' का हिन्दी संस्करण मँगाता था। इसलिए मँगाता था क्योंकि उत्तर भारत में सर्वत्र हिन्दी चलती थी। ऐसी भाषा का कुछ ज्ञान होना अच्छा भी है और आवश्यक भी।

काका साहब को तब पहली बार हिन्दी की उपयोगिता का पता लगा। वे जानते थे कि महाराष्ट्र के अनेक सन्तों ने हिन्दी में पद्य-रचना की है। बड़ौदा के सयाजीराव गायकवाड़ ने अपने राज्य में गुजराती को प्रजा की भाषा माना और हिन्दी को सारे देश की भाषा स्वीकार किया। उसे प्रोत्साहन दिया। यह सब उन्हें मालूम था पर स्वयं उन्होंने इस विषय पर अभी कुछ नहीं सोचा था। इसलिए उन्होंने गुजरात के मनीषियों ने अभी तक जो कुछ लिखा था, उसे ध्यान से पढ़ा। फिर अपनी मातृभाषा मराठी में वह निबंध लिखा। उसका गुजराती अनुवाद किया श्री किशोरीलाल मशरूवाला ने। काका साहब ने लिखा है, "उस समय मुझे कल्पना भी नहीं थी कि यह निबन्ध मेरे भाग्य में महत्त्व का परिवर्तन करनेवाला है। यह लेख लिखा गया था, सन् 1917 के आखिर के दिनों में।"

इस प्रकार सन् 1917 का वर्ष काका साहब के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ प्रमाणित हुआ। [illegible] थी और जीवन का [illegible] था। उस समय उनकी आयु बत्तीस वर्ष की थी और मृत्यु के समय वह [illegible] वर्ष के थे। पूरे चौंसठ वर्ष तक वे हिन्दी की सेवा करते रहे।

उन्होंने मातृभाषा मराठी की पर गुजराती भाषा [illegible] अधिक [illegible], गुजराती का और [illegible]।

पिताजी रियासत के लिए सरकारी 'प्रोमीसरी नोट' खरीदने जा रहे थे। दत्तू ने उन्हें सुझाया, "नोटों के भाव रोज बदलते रहते हैं। यदि हम कोशिश करें तो खुले भावों से कुछ सस्ते मूल्य पर नोट खरीदे जा सकते हैं। राज्य को यह बात बताने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार बीच में जो मुनाफा होगा वह हम ले सकते हैं। किसी को पता भी न चलेगा और सहज ही बहुत-सा पैसा हमें मिल जाएगा।"

काका साहब ने लिखा है, "मुझे लगा कि पिताजी ने मेरी बात शान्ति से सुन ली है लेकिन उससे उन्हें कितनी चोट लगी है इसकी मुझे उस वक्त कल्पना तक न थी···थोड़ी देर बाद पिताजी ने भर्रायी आवाज में कहा, 'दत्तू, मैं यह नहीं जानता था कि तुम में इतनी हीनता होगी। तेरी बात का अर्थ यही है कि मैं अपने अन्नदाता को धोखा दूं। लानत है तेरी शिक्षा पर। अपने कुलदेवता ने हमें जितनी रोटी दी है उतनी से हमें सन्तोष मानना चाहिए। लक्ष्मी तो आज है, कल चली जाएगी। इज्जत के साथ अन्त तक रहना ही बड़ी बात है। मरने के बाद जब ईश्वर के सामने खड़ा होऊंगा तब क्या जवाब दूंगा। तू कालेज जा रहा है। वहाँ पढ़-लिख कर क्या तू यही करेगा? इसकी अपेक्षा यदि तू यहीं से वापिस लौट जाए तो क्या बुरा है?'

स्तब्ध दत्तू ने दृष्टि उठाकर पिता की ओर देखा – ज़रा भी उत्तेजना नहीं, आवेश नहीं। चेहरे पर अद्भुत गाम्भीर्य लेकिन दृष्टि कैसी बेधड़क, अन्तर को चीर गयी दत्तू के। सब कुछ उलट-पलट गया क्षण भर में। दूर हो गयी धन कमाने की लालसा, दूर हो गया अंग्रेजों को ठगने का मोह। कई मोड़ आये दत्तू के जीवन में पर उस दिन उसे पिता से जो जीवन-पाथेय प्राप्त हुआ, वही मृत्युपर्यन्त उसका सम्बल बना रहा। उन्होंने निश्चय किया कि हराम के धन का लोभ वे कभी नहीं करेंगे। पिता जी का नाम वे कभी नहीं डुबोयेंगे।

इसी तरह माँ के सम्बन्ध में एक संस्मरण काका साहब ने अपनी जीवन यात्रा 'बढ़ते क़दम' में लिखा है। बालक दत्तू देखता कि माँ जब देवदर्शन को जाती है तो अच्छे से-अच्छे कपड़े और गहने पहनकर जाती है। साथ में दूसरे सरकारी अफसरों की पत्नियाँ भी होतीं और चपरासी भी रहता। बालक दत्तू ने एक दिन माँ से पूछा, "आई,[1] आप मन्दिर जाती हैं तब अच्छे-अच्छे गहने क्यों पहनती हैं और मन्दिर का रास्ता मालूम होते हुए भी चपरासी साथ क्यों लेती हैं?"

बेटे का प्रश्न सुनकर माँ खूब हँसी। फिर बोली, "दत्तू, देखो हम अच्छे बड़े मकान में रहते हैं। घर में नौकर-चाकर हैं। यह सारा वैभव भगवान की कृपा से ही तो हमें मिला है। मन्दिर को जाते हैं तब अच्छे कपड़े पहनते हैं। कीमती गहने पहनते हैं और भगवान को सब कुछ दिखाकर कहते हैं कि देव-बापा, यह सारी

---

1 मराठी में माँ को 'आई' कहते हैं।

तेरी ही कृपा है। आनन्द से रहते हैं, तुमने बच्चे दिये, सुख-समृद्धि दी और वैभव दिया, यह तेरी ही कृपा है। भगवान हमारे हाथों गरीबों का भला होने दो। सभी के आशीर्वाद हम प्राप्त करें और कभी भी तुझे न भूलें।"

इस कथन के अनेक अर्थ निकाले जा सकते हैं, निन्दात्मक और प्रशंसात्मक दोनों। लेकिन काका ने माँ के इस कथन को पहली दीक्षा के रूप मे लिया। उन्हीं के शब्दों मे, "मन्दिर मे एकत्र होनेवाले लोग अधिकतर विभिन्न प्रकार की माँग करते हैं—यह सारा मैंने सुना था। माँ के कहने के अनुसार भगवान से कुछ माँगने की बात नही है किन्तु भगवान की कृपा को याद कर, उसका इकरार करने की बात है। यह भेद बहुत वर्षों के बाद मन मे स्पष्ट हुआ। मन्दिर मे जाकर, भगवान के उपकार को याद कर उसको स्वीकार करने की बात मेरे मन मे जम गयी।"

यह भी अद्भुत संयोग है कि काका साहब का जन्म उसी वर्ष हुआ, जिस वर्ष भारत को दासता से मुक्त कराने मे अग्रणी 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना हुई। सन् 1885 के दिसम्बर माह की पहली तारीख, कार्तिक कृष्णा 10, मंगलवार के दिन, महाराष्ट्र की तत्कालीन राजधानी सतारा मे काका साहब का जन्म हुआ।

जाति के सारस्वत ब्राह्मण ये लोग कहाँ से आकर दक्षिण-पश्चिम में बस गये, यह कोई नही जानता। पहले इनका कुल नाम राजाध्यक्ष था लेकिन जब ये लोग गोवा के उत्तर मे सामंतवाडी राज्य के कालेली गाँव मे रहने लगे तो, कुल नाम हो गया कालेलकर।

उन दिन सामंतवाड़ी मे डाकुओं का, और राज्य के अधिकारियों का भी, आतंक निरंतर बढ़ रहा था। इसलिए काका साहब के दादा श्री जीवा जी बेळगाव के पास एक गाँव मे आकर रहने लगे। एक साहूकार के यहाँ नौकरी करते थे। जो भी बचत होती थी वह वे साहूकार के पास जमा कराते रहते थे। लिखा-पढ़ी कुछ भी नही। परिणाम यह हुआ कि साहूकार की मृत्यु के बाद उन्हें कुछ नही मिला। मिली तो बस काका साहब के पिता श्री बालकृष्ण जीवाजी कालेलकर को विरासत मे गरीबी।

लेकिन अपने परिश्रम से उन्होंने अंग्रेजी पढ़ी। पहले सेना के किसी विभाग में और फिर मुल्की विभाग मे उन्हें नौकरी मिल गयी। ईमानदारी और परिश्रम-शीलता के कारण वे बराबर आगे बढ़ते रहे। जब काका साहब का जन्म हुआ तब वे सतारा जिले के कलेक्टर के कार्यालय में हेड एकाउंटेंट के पद पर थे।

उसके बाद उन्हें एक महत्त्वपूर्ण पद मिला। देशी राज्यों में जो शासक नाबा-लिग होते, उनकी देखभाल अंग्रेज सरकार करती थी। यह व्यवस्था सुचारु रूप से चल रही है, इसकी जांच करने सरकार कभी-कभी बालकृष्ण कालेलकर को भेजती दी। काकासाहब उन दिनों विद्यार्थी थे लेकिन विद्याभ्यास की [illegible]

पिता के साथ जाने का आग्रह करते थे। इस प्रक्रिया मे एक ओर तो उन्हे अनेक देशी राज्यों की राजधानियों मे जाने का सुयोग मिला और उनमे भ्रमण की प्रवृत्ति पैदा हुई, दूसरी ओर देशी राज्य कैसे चलते हैं, प्रजा की भावना कैसी होती है और अंग्रेज अपनी नीति कैसे चलाते हैं, यह सब देखने और अनुभव करने का अवसर भी मिला।

काका साहब को यही छोडकर थोडी 'दत्तू' की खबर भी लें। दत्तू दत्तात्रेय का अपभ्रंश है पर *दत्तात्रेय नाम की भी एक कहानी है।* उन्ही के शब्दो मे, "मेरे जन्म से पहले एक साधु हमारे यहाँ आये थे। उन्होने मेरे पिताजी से कहा, 'इस बार भी आपके यहाँ लडका पैदा होगा। उसका नाम 'दत्तात्रेय' रखियेगा क्योकि वह श्रीगुरु दत्तात्रेय का प्रसाद है।'

"मुझे लगता है, प्रत्येक व्यक्ति को अपना नाम स्वय चुनने का अधिकार होना चाहिए। अगर मुझे अपना नाम चुनने के लिए कहा जाता तो मैं नही कह सकता कि मैं कौन-सा नाम पसन्द करता लेकिन मुझे इतना तो सन्तोष है कि मेरा नाम सुदूर आकाश के तटस्थ तारो के हाथ मे न रहकर मेरे प्रेमल माता-पिता के हाथ मे रहा और उन्होंने फलित ज्योतिष की शरण मे न जाकर एक वैरागी भक्त के सुझाव को स्वीकार किया।"

[संस्कृति के परिव्राजक : मेरे जीवन-प्रसग, पृ० 195]

अपने जीवन को समर्पित कर देने पर ही दत्त नाम सार्थक होता है। काका साहब ने अन्ततः गांधी जी और हिन्दी के लिए अपने को समर्पित करके इस नाम को सार्थक किया।

लेकिन दत्तू क्या तब यह सब जानता था? वह सात भाई-बहनो मे सबसे छोटा था और कहावत है कि जो परिवार मे सबसे छोटा होता है, वह जल्दी बडा *नही होता। दत्तू का शैशव इसी बात का प्रमाण है।* धर्मनिष्ठ प्रेमल माता-पिता की अतिरिक्त सतर्कता और बडे भाइयो के दबाव के कारण दत्तू की व्यवहार-बुद्धि जल्दी जागृत न हो सकी। वह अकेला कही जा नही सकता था। मेरा दाहिना हाथ कौन-सा है, यह जानने के लिए दत्तू को बुद्धि का अतिरिक्त *प्रयोग करना* पडता। वह अपने हाथ से खाना तक नही खा सकता था। उसके भाई-बहन उसका खूब मजाक उडाते थे।

इस स्थिति के कारण उसमे एक प्रकार का हीन भाव पैदा हो गया था। वह मन की बात किसी से नही कह सकता था पर इसी कारण *वह अन्तर्मुखी होता* चला गया और धीरे-धीरे कल्पनाओं के ससार मे विचरने लगा। अन्त मे, यही प्रवृत्ति उसके अपार प्रकृति प्रेम मे विकसित हुई। काका साहब के अनन्त प्रवास-पर्यटन, नदी-नद-सागर, हिमशिखर-प्रपात, वन-प्रान्तर और निरभ्र नील गगन के प्रति उनका अद्भुत आकर्षण, उनका सूक्ष्म गहन आकाश दर्शन, इन सब प्रवृत्तियों का

लेकिन वे लोग बाबा साहब से सहमत नहीं थे। इसलिए अन्तत उन्हें अपनी राह बदलनी पड़ी। मनुष्य का मन तलाश में व्यग्र हो तो छोटी-से-छोटी घटना भी उसे कैसे सीख देती है, ऐसे अनेक उदाहरण बाबा साहब के जीवन में मिलते हैं। जब वह कालेज में पढ़ रहे थे तब एक दिन उन्होंने तर्कशास्त्र पर लिखी अपनी टिप्पणियाँ जिस कापी में लिखकर अध्यापक श्री नाना ओक को जाँचने के लिए दी, वह लौंग्मैन एण्ड ग्रीन कम्पनी द्वारा तैयार की गयी 'इंडियन एक्सरसाइज बुक' थी। अध्यापक ओक ने 'इंडियन' शब्द के आगे प्रश्न-चिह्न लगाकर कापी लौटा दी थी। तब बाबा साहब स्वदेशी एक्सरसाइज बुक खरीदकर लाये। उसमें वे टिप्पणियाँ लिखीं और अध्यापक ओक को दीं। अध्यापक ओक ने दृष्टि उठाकर बाबा साहब को देखा। दोनों हँस पड़े।

स्वदेशी की इस मौन दीक्षा ने बाबा साहब की तलाश को एक दिशा दी। इसी तलाश के कारण उनका मन गुप्त संस्थाओं से विरक्त हो गया। इस सारे उहापोह के बीच उनका अध्ययन बराबर चलता था। फर्ग्युसन कालेज के प्रिंसिपल रेंगलर परांजपे के प्रभाव में आकर वे नास्तिकता की ओर भी मुड़े थे। तब उन्होंने चोटी और जनेऊ का त्याग कर दिया था।

कैसी जिज्ञासा थी उनमें, कितना अध्ययन करते थे वह। उन्हीं के शब्दों में, "गुप्त आंदोलन करनेवाले अपने को गुप्त रखने की साधना भी साध नहीं सकते। स्वातन्त्र्य प्राप्ति के लिए जो तैयारी चाहिए, उसका हजारवाँ तो क्या, लाखवाँ हिस्सा भी हम नहीं कर पाए हैं। तब आगे कैसे बढ़ सकेंगे? इसकी चिन्ता मनःस्थिति निराशा की हद तक पहुँच गयी थी। स्वामी विवेकानन्द का वेदान्त, रामकृष्ण मिशन, डॉ. भगवानदास का सर्व धर्म समन्वय, रवीन्द्रनाथ का काव्यमय जीवन तत्व दर्शन, लोकमान्य तिलक की प्रेरणा से जागी हुई राष्ट्रीय जागृति, श्रीअरविंद घोष की यौगिक शक्ति—ये सारी चीजें प्रेरक और प्रोत्साहक थीं। फिर भी राष्ट्र का तुरन्त उत्थान करने की आवश्यकता को पहुँच सके, ऐसी कोई सामाजिक प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती थी। कभी कभी निराश होकर मैं कहता कि राष्ट्रव्यापी दृष्टि का [illegible] जारी रखने के लिए जो साधन चाहिए, सो तो अलग बात है किन्तु [illegible] हो सके, ऐसा कुछ भी जनता में नहीं है। उनका [illegible], उनके [illegible] साल, यही थी मेरी उलझन।" [स्मरण के [illegible], पृ०-137]

उन्होंने सन् 1907 में बी० ए० की परीक्षा पास की। [illegible] होने पर उनके मन में देश की स्वतन्त्रता और [illegible] के [illegible] उमड़ चुके थे। [illegible] विवेकानन्द [illegible] किया। [illegible] "मैं [illegible] कई तरह से विचार करके देखा है [illegible] हूँ [illegible] हो [illegible] है।"

इसके अतिरिक्त काका साहब श्रीअरविंद की पत्रिका 'कर्म योगिन' के नियमित पाठक थे। इन विचारों से उनकी उपरोक्त उलझन एक सीमा तक दूर हो गयी। उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा के लिए अपने को समर्पित करने का निश्चय कर लिया।

इन्हीं दिनों उनका ध्यान दो और व्यक्तियों की ओर गया—एक थे बैरिस्टर गांधी जो दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह का प्रयोग कर रहे थे, दूसरे थे स्वामी रामतीर्थ। एक मित्र के साथ मिलकर उन्होंने स्वामी रामतीर्थ के उपदेशों का अनुवाद मराठी भाषा में किया था।

लेकिन इससे पहले वे अपने निश्चय को कार्य रूप में परिणत कर सकें, कई घटनाएँ तेजी से घटती चली गयीं। सबसे पहले वे कर्नाटक के अग्रणी जननेता श्री गंगाधरराव देशपाण्डे के सुझाव पर बेळगाव की राष्ट्रीय शिक्षा संस्था गणेश विद्यालय के संचालक बन गये परन्तु वहाँ का वातावरण तो एकदम प्रगति विरोधी था। इसलिए वे वहाँ नहीं रह सके और पिताजी की आज्ञा मानकर कानून का अध्ययन करने लगे। सन् 1908 में उन्होंने प्रथम वर्ष की परीक्षा पास की। इसी वर्ष उनकी स्नेहमयी माँ का देहावसान हुआ। इसी वर्ष इंग्लैंड में कर्नल वायली की हत्या भी हुई।

देश का राजनैतिक वातावरण काफी गरम था उन दिनों। विशेषकर सूरत कांग्रेस में गरम दल की सक्रियता के कारण। इस गरमी को सही दिशा देने के लिए यह अनुभव किया गया कि राष्ट्रीय विचारों का एक अच्छा दैनिक पत्र निकाला जाए। इसके परिणामस्वरूप 'दैनिक राष्ट्रमत' का प्रकाशन शुरू हुआ। काका साहेब इसके सम्पादक-मंडल के एक सदस्य बने। ठीक इसी समय लोकमान्य को छः वर्ष के लिए माण्डले जेल में बन्द कर दिया गया। महाराष्ट्र के राष्ट्रीय आंदोलन को इससे बहुत बड़ा धक्का लगा। तब इस स्थिति को संभालने का भार सहज ही लोकप्रिय 'राष्ट्रमत' पर आ गया।

इसकी आवाज ठेठ दातों तक जा पहुँची थी। जैसे-जैसे समर्पित व्यक्तित्व काम कर रहे थे इसके पीछे। श्री गंगाधर राव देशपांडे के नेतृत्व में काम करने वाले इस दल के सभी सदस्य [illegible] में महाराष्ट्र के भावी [illegible] हुए। यहीं पर काका साहब की स्वामी आनन्द से भेंट हुई और वे दोनों आजन्म मैत्री के बन्धन में बंध गये।

'राष्ट्रमत' की यही लोकप्रियता उसका काल प्रमाणित हुई। नासिक के कलेक्टर जैक्सन की हत्या के कारण सरकार के मन में [illegible] और संस्थाओं के बारे में सन्देह पैदा हो गया था। 'राष्ट्रमत' भी इस सन्देह से नहीं बच सका। एक दिन सरकारी आदेश और उसका प्रकाशन बन्द हो गया। [illegible]

एक बार फिर काका साहब [illegible]

काम करने का अवसर मिल गया। बड़ौदा के बैरिस्टर केशवराव देशपाण्डे ने एक विद्यालय की स्थापना की थी। इसी 'गंगनाथ भारती विद्यालय' के लिए एक कार्यकर्ता की आवश्यकता थी। अतएव काका साहब ने वहाँ जाना स्वीकार कर लिया। इस स्वीकार के पीछे एक रहस्य था। काका साहब को मराठों के इतिहास पर गर्व रहा है लेकिन एक जिज्ञासु और अध्ययनशील व्यक्ति के नाते वह यह भी मानते थे कि मराठों ने अन्याय और अत्याचार भी कम नहीं किये विशेषकर गुजरात पर। उस समय देश में आसेतु हिमाचल एक राष्ट्र की कल्पना रूप ले रही थी। प्रान्त-प्रान्त के बीच जो वैमनस्य था, उसे दूर करना अत्यन्त आवश्यक था। यह सोचकर काका साहब ने बड़ौदा जाना स्वीकार कर लिया। पिताजी की मृत्यु (1910) हो चुकी थी। परिवार का आकर्षण कम हो गया था। वे गंगनाथ विद्यालय में चालीस रुपये मासिक पर काम करने लगे। उन दिनों लोग 'व्यक्ति' नहीं, परिवार बनाकर काम करते थे। यह उस युग की आवश्यकता थी। संस्था के संचालक देशपाण्डे साहब गाँधी जी से विलायत में मिल चुके थे। वह श्री अरविन्द के साथी और अनुयायी भी थे। वे 'साहब' के नाम से जाने जाते थे। काका साहब यहीं 'काका' बने। फड़के को 'मामा' और हरिहर शर्मा को 'अण्णा' का विरुद भी यहीं मिला।

यहाँ काम करते समय उन्हें अमरीका के प्रसिद्ध हब्शी नेता बुकर टी. वाशिंगटन की दो पुस्तकें 'अप फ्राम स्लेवरी' (आत्मोद्धार) और 'माई लार्जर एज्युकेशन' (मेरी व्यापक शिक्षा) पढ़ने को मिलीं। फलस्वरूप राष्ट्रीय शिक्षा के संबंध में उनके जो विचार बने थे वे और व्यापक और विकसित हुए। मात्र राष्ट्राभिमान जगाना और क्रांति की तैयारी करना ही राष्ट्रीय शिक्षा नहीं है बल्कि भारतीय संस्कृति के आधार पर नये जीवन मूल्यों की तलाश भी उसी शिक्षा का अंग है। मात्र बौद्धिक शिक्षा नहीं, कला-कौशल और उद्योग-धन्धों का विकास भी होना आवश्यक है।

लेकिन अभी काका साहब की तलाश खत्म नहीं हुई थी। सरकार ने भी मानो परोक्ष रूप से उन्हें सहायता देने का निश्चय कर रखा था। विद्यालय पर उसकी वक्रदृष्टि तो थी ही। सन् 1911 के दिल्ली दरबार में महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ ने थोड़ा स्वाभिमान दिखाया। सम्राट जार्ज पंचम को प्रणाम करते समय वे पूरी तरह झुके नहीं और मुड़ते समय उनकी पीठ भी सम्राट के सामने आ गयी इसीलिए वे सम्राट की सरकार के कोपभाजन बने। विद्यालय के नियामक-मंडल में बड़े-बड़े अधिकारी थे, जिनके प्रमुख देशपाण्डे थे। उन्होंने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और नियामकों ने विद्यालय बंद करने का निश्चय किया। तब काका साहब ने कहा, "आपके आश्रय के बिना भी हम संस्था चलायेंगे। उसे

जीवित रखने के लिए जरूरी पैसा जनता देगी। हम गंगनाथ विद्यालय को बन्द नहीं करेंगे।"

पर जनता इतनी भयभीत थी कि एक भी विद्यार्थी विद्यालय में आने को तैयार नहीं हुआ। काका साहब का मोहभंग हो गया। उन्हीं के शब्दों मे, "मैं हार गया और हिमालय में जाकर आध्यात्मिक साधना करने का निर्णय किया। हिमालय जाने की मेरी बड़ी इच्छा थी। मैं हमेशा हिमालय जाने की बात तो सोचा करता था लेकिन कैसे जा सकूँगा इसकी कोई कल्पना भी मेरे दिमाग़ मे नहीं थी। आखिर एक दिन अनसोचे ढंग से मेरे लिए हिमालय जाने का रास्ता खुल गया।

परिवार के लोगों को घर पहुँचाने के लिए मैं बेळगाव गया। वहाँ से कहाँ जानेवाला हूँ, इसकी कोई खबर किसी को दिये बिना ही मैं काशी यात्रा के बहाने रवाना हुआ।" (हिमालय की यात्रा, पृ० 3)

काका साहब की यह यात्रा पलायन नहीं थी, भगवान के पास से नयी प्रेरणा प्राप्त करने के लिए थी लेकिन परिवार के प्रति अन्याय तो हुआ ही। उनके बड़े बेटे डॉ. सतीश कालेलकर ने बताया है कि तब उनकी माँ बहुत रोती थी और सप्ताह मे पाँच दिन व्रत रखकर पति के लौटने के लिए प्रार्थना करती रहती थी।[1]

तलाश और तलाश

हिमालय की यात्रा उन दिनों आज की तरह सुगम नहीं थी। साधारण मान्यता के अनुसार वह अन्तिम यात्रा होती थी। इसलिए उस ओर प्रयाण करने से पूर्व काका साहब अपने साथी रामदासी सम्प्रदाय के महन्त अनन्त बुआ के साथ पहले त्रिस्थली, प्रयाग, बनारस और गया गये। वहाँ माता-पिता का श्राद्ध करके वे पहुँचे कलकत्ता। कलकत्ता स्थित बेलुड़ मठ मे रामकृष्ण मिशन के साधकों से मिले। फिर अयोध्या होते हुए अल्मोड़ा पहुँचे। यहाँ से स्वामी आनन्द को साथ लेना था। ये तीनों यात्री हिमालय में लगभग ढाई हज़ार मील पैदल चले। ये साधारण यात्री नहीं थे, न पुराने ढंग के साधक थे। उनके पास देश-दर्शन, प्रकृति की भव्यता और समाज निरीक्षण की विशेष दृष्टि थी।[2]

उन्होंने क्या-क्या देखा, कैसे आनन्द का अनुभव किया उसका वर्णन काका

1. पाँच अप्रैल, 1985 को आकाशवाणी के अहमदाबाद केन्द्र से प्रसारित भेंटवार्ता।
2. अवकाश होने पर कभी-कभी आचार्य कृपालानी भी साथ हो लेते थे।

साहब ने अपनी पुस्तक 'हिमालय की यात्रा' मे किया है। यह पुस्तक मूलत गुजराती मे लिखी गयी है। सुन्दर शब्द चित्रो के लिए गुजराती साहित्य मे इस पुस्तक की अच्छी मान्यता है।

केवल यात्रा नही थी यह। एक-दो स्थानो पर रहकर उन्होने ध्यान साधन भी की थी। उन्होने लिखा है कि वे स्वराज्य सकल्प की पूर्ति के लिए लौटे थे कहते हैं कि ध्यान की स्थिति मे ही यह प्रेरणा उन्हे मिली थी।

उनकी हिमालय यात्रा का अत सन् 1913 मे नेपाल की यात्रा के साथ हुआ उन दिनो उनका मन सास्कृतिक स्वराज्य के चिन्तन मे लगा था। इसलिए रामकृष्ण मिशन के सम्पर्क मे भी आये। मिशन के अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द विचार-विमर्श हुआ। स्वामी जी ने सन्यास की दीक्षा के प्रश्न पर उन्हे बताया कि अभी तीन साल प्रतीक्षा करनी होगी।

वे तीन साल कभी पूरे नही हुए क्योकि अब काका के विचारो मे परिवर्तन हो चुका था। वे स्वामी विवेकानन्द के प्रति श्रद्धानत थे पर सस्था का रूप औ सन्यासियो की भीड देख कर उनका आग्रह ढीला पड गया। उन्हे लगा कि ऐ करके वे पत्नी और सन्तान के प्रति अन्याय करेंगे। इसके अतिरिक्त राष्ट्री शिक्षा का सकल्प अभी भी उनके मन मे जीवित था। वे शातिनिकेतन गये। उन मन वहाँ रम रहा था।

उन्होने राष्ट्रीय शिक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण कई सस्थाओ को न केवल दे बल्कि कुछ मे रहकर उन्होने काम भी किया। हरिद्वार के ऋषिकुल मे वे महीनो तक मुख्य अधिष्ठाता के पद पर रहे। स्वामी श्रद्धानन्द के गुरुकुल काँग को देखकर उन्हे बड़ा आश्चर्य हुआ कि वे केवल जनता की मदद से इतनी ब सस्था चला रहे हैं।

उन्होने राजा महेन्द्र प्रताप का प्रेम महाविद्यालय भी देखा। आचार्य कृपालानी, चोइथराम गिडवानी, नारायण मलकानी, ये तीनो एक आश्रम का सचालन करते थे। उसका नाम था—'सिन्धु ब्रह्मचर्याश्रम'। काका साहब यहाँ भी छः महीने रहे। वहाँ से वे फिर शांतिनिकेतन गये और छः महीने दत्तात्रेय बाबू के नाम से पढ़ाते रहे। उसके बाद आचार्य कृपालानी और गिरिधारी कृपालानी के साथ बर्मा ... साधु के वेश मे वे पं. मदनमोहन ...-विनिमय किया था।

...मे आयी हुई थोड़ी
... से बड़ थोड़ी
... जीवन का
...उन्हे

काका साहब ने लिखा है कि सन् 1915 के शुरू में तीन महान शक्तियाँ उन्हें अपनी ओर खींच रही थीं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर चाहते थे कि वह स्थायी रूप से वहाँ की व्यवस्था संभाल लें। काका साहब गुरुदेव को कवि के रूप में ही नहीं, एक शिक्षा शास्त्री के रूप में भी महान मानते थे। उनका निमन्त्रण कितना प्रलोभनीय हो सकता है इसकी कल्पना की जा सकती है। लेकिन जो तलाश में निकला है, वह प्रलोभन की चिन्ता कैसे करे! बहुत बातें हुईं उनसे। फिर गांधी जी आये। उन्होंने भी निमन्त्रण दिया। उनसे भी खुलकर बातें हुईं। राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य प्राप्ति के साधन के संबंध में काका साहब को लगा कि यही वह व्यक्ति है जो भविष्य की आशा है। इसलिए उन्होंने गुरुदेव से कहा, "आप जानते हैं मैं अपना हृदय आपको दे चुका हूँ। आपकी प्रवृत्तियाँ मुझे अच्छी लगती हैं किन्तु अब मेरा मन गांधी जी की ओर खिंच रहा है। बड़ौदा की हमारी संस्था जब बन्द हो गयी थी तो मैं निराश होकर हिमालय चला गया था। वहीं रह सकता था पर स्वराज्य का संकल्प मुझे वापिस खींच लाया···मैं मानता हूँ कि गांधी जी आपसे जल्दी स्वराज्य ला सकेंगे इसीलिए उनके यहाँ जाने की इच्छा होती है।"

गुरुदेव ने सहर्ष उन्हें अपना आशीर्वाद देकर जाने की अनुमति दे दी। बाद में सुना कि गांधी जी ने स्वयं गुरुदेव से काका साहब को माँगा था और गुरुदेव ने उत्तर दिया था, "दत्तात्रेय बाबू की सेवा मैं आपको उधार दे सकता हूँ।"

कई वर्ष बाद जब गुरुदेव साबरमती आश्रम में गये तब उन्होंने गांधी जी से कहा था, "मैंने दत्तात्रेय बाबू की सेवा आपको उधार दी थी, वह वापस करने की आपकी इच्छा नहीं दीखती।"

और दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े थे।

लेकिन गांधी जी के साथ भी काका साहब ऐसे सहज भाव से नहीं आ गये थे। एक और शक्ति उन्हें अपनी ओर खींच रही थी। गंगनाथ विद्यालय के संस्थापक-संचालक श्री केशवराव देशपांडे वह तीसरी शक्ति थे। क्रांतिकारी विचार और शिक्षा के आग्रह के कारण दोनों समानधर्मा थे। इसके अतिरिक्त हिमालय की यात्रा पर निकलने से पूर्व उन्होंने केशवरावजी से देवी की उपासना की दीक्षा ली थी। इस तरह वे काका साहब के दीक्षा गुरु थे। इसलिए जब शांतिनिकेतन से लौटकर काका साहब उनसे मिलने बड़ौदा के पास सयाजीपुरा गये तो उन्होंने उनसे ग्रामवासियों की सेवा करने के लिए अपने पास रहने का आग्रह किया।

काका दीक्षागुरु की बात कैसे टाल सकते थे! वह वहीं रह गये। पत्नी-पुत्र को भी ले आये। वहाँ उन्होंने एक सहकारी डेयरी चलाने का प्रयत्न किया। 'आत्मोद्धार' (मासिक) के सम्पादन में भी मदद करते रहे। लेकिन अनेक कारणों से वह सफल नहीं हो सके। वह वापस बड़ौदा आ गये। बीच में एक महीना

आश्रम में भी रहे पर स्थायी रूप से वहाँ आने की बात उनकी समझ में नहीं आ रही थी। हालांकि उधर से आमन्त्रण आ रहे थे। अन्त में गाँधी जी ने देशपाडे को पत्र लिखा, "आपके पास काका हैं। आप उनका विशेष उपयोग करते हो ऐसा नहीं लगता। आश्रम में हम एक शाला चलाना चाहते हैं"आदि-आदि।"

देशपाडे बोले, "इतने महान पुरुष माँग रहे हैं और आश्रम में भी राष्ट्रीय शिक्षा का काम है। गगनाथ में आप यही काम करते थे। बापू के आश्रम को भी गंगनाथ समझ लीजिये और जैसे वहाँ राष्ट्रीय शिक्षण का काम करते थे, वैसे यहाँ भी कीजिए।"

और जब 10 अप्रैल सन् 1917 को चम्पारण जाते हुए बडौदा स्टेशन पर गाँधी जी ने स्वयं उनसे आश्रम आने का आग्रह किया तो उन्होंने सहमति दे दी। दीक्षा गुरु की अनुमति पहले ही मिल चुकी थी।

जीवन-संगिनी

आश्रम-जीवन का वर्णन करने से पूर्व उनके वैवाहिक जीवन पर दृष्टि डालना उचित होगा। पुरुष प्रधान समाज होने के कारण हमने यह मान लिया है कि नारी नर के मार्ग की बाधा अधिक है। कभी यह प्रयत्न नहीं किया कि वह सचमुच अर्धांगिनी और सहचरी बने।

काका साहब की पत्नी के संदर्भ में यह प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है। काका साहब उन्हें और बच्चों को छोड़कर हिमालय यात्रा पर चले गये थे। जब लौटने की प्रेरणा मिली तब वे लौटे। उनका पुनर्मिलन हुआ पर वे न लौटते तो ..."

... समय की परिस्थिति का अवलोकन करना
...वय अपने वैवाहिक जीवन का रोचक वर्णन
उनकी आयु अपेक्षाकृत कुछ
...टी ...। तब एक घर में
...थे। छिपकर बोलने तक

...का आदर करते थे पर
...पर उन्होंने एक रास्ता ढूंढ
पत्नी के आने पर यह काम सहज
...ब माँ और घर की दूसरी बहनों

की उपस्थिति में मैं पत्नी से सीधा सवाल पूछता, "स्नान के लिए माँ तैयार है। पानी रखा है। माँ के कपड़े तैयार करने हैं।"''घर के लोग मुझ पर हँसते। बेचारी पत्नी शरम के मारे पानी-पानी हो जाती लेकिन जब सबने देखा कि सिर्फ माँ-बाप की सेवा के संबंध में ही प्रश्न पूछता है अन्यथा पत्नी के साथ नहीं बोलता। मातृ-पितृभक्ति के कारण केवल इस सीमा तक पुरानी रूढ़ियाँ इसने तोड़ी हैं। बाकी संयम में वह किसी से भी कम नहीं है तब मेरी मज़ाक एक-दो बार हुई सो हुई फिर तो मेरा हक़ सबको मान्य हो गया। पत्नी भी बिना कुछ बोले सिर हिलाकर जवाब देती सब ठीक है।" (समन्वय के साधक, बढ़ते कदम, पृष्ठ 143)

लेकिन एक बात वह निरन्तर अनुभव करते थे कि पत्नी उदास-उदास रहती है। क्या करे वह? एक दिन उपाय सूझ गया। भोजन के बाद वह इलायची लेते थे। उस दिन दो ले लीं और एक के दाने निकालकर जाते-जाते उसके हाथ पर रख दिए। उसके बाद काका साहब ने देखा कि वह प्रसन्न रहने लगी है। एक दिन वह आँगन में बैठे थे। आस-पास कोई नहीं था। जाते-जाते हिम्मत बटोरकर पत्नी ने कहा, "इलायची के उन दानों ने आपके प्रेम का मुझे भरोसा दिला दिया। अब जीवन में कितने ही संकट आयें, मुझे उनकी परवाह नहीं।"

काका साहब ने लिखा है कि जीवन में उसका यह पहला ही वाक्य था, इसलिए भूल नहीं सका। लेकिन बात केवल इतनी ही नहीं है। यह वाक्य पत्नी के चरित्र को उजागर करता है। आगे की घटनाओं ने इसे प्रमाणित कर दिया है। काका साहब कई वर्ष तक दिशा की तलाश में भटकते रहे। कितने प्रयोग किये उन्होंने। कई बार जेल यात्रा की। कितना सहना पड़ा तब काकी को। काका साहब के आश्रम में जाने के बाद उनकी पत्नी स्वतः ही सबकी काकी बन गयी थी। तब से इसी नाम से वे जानी जाती रहीं।

आश्रम जीवन उनका आदर्श नहीं था लेकिन वे काका साहब के साथ एक रस होकर वहाँ रहीं। वे कभी भी अपने विचार छिपाती नहीं थीं। गाँधी जी तक उनके विचारों को मान देते थे। कोई बात समझानी होती तो स्वयं उनके पास जाते।

तब प्रथम विश्व युद्ध चल रहा था और गाँधी जी के मन में अब तक ब्रिटिश साम्राज्य से पूरी तरह नाता तोड़ लेने की बात दृढ़ नहीं हुई थी। अन्याय का प्रतिकार करने के अतिरिक्त संकट में उसकी सहायता करने में उन्हें आपत्ति नहीं थी। वायसराय के आमंत्रण पर उन्होंने ब्रिटिश सेना के लिए रंगरूट भरती करना स्वीकार कर लिया था। सबसे पहले यह प्रयोग आश्रम से ही शुरू हुआ। उन्होंने आश्रमवासियों को बुलाकर कहा, "युद्ध के लिए रंगरूट भरती करने का काम मैंने अपने सिर लिया है। इसीलिए जानना चाहता हूँ कि आश्रम में भरती होने को कौन-कौन तैयार है।"

काफी ऊहापोह के बाद केवल दो व्यक्तियों ने अपने नाम दिए थे। उनमें एक नाम काका साहब का था। काका साहब सेना में जाने को तैयार हैं, यह सुनकर काकी आग-बबूला हो उठीं। बोलीं, "अंग्रेज के पक्ष में लड़ने के लिए काका साहब उनकी सेना में भरती हों यह मैं कभी पसन्द नहीं करूंगी। अंग्रेजों के खिलाफ़ लड़ने को तैयार हों तो मैं समझ सकती हूं। उनका विरोध मैं नहीं करूंगी। किन्तु यह बात मेरी कल्पना से परे है।"

गांधी जी को काकी के निश्चय का पता लगा तो वे उन्हें समझाने आए। काकी बोलीं, "आप ऐसा न मानें कि मैं कायर हूं। मेरा नाम लक्ष्मी है। झांसी की रानी का चरित्र मैंने पढ़ा है। जब से काका साहब कालेज के दिनों में अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यंत्र में शामिल हुए थे तब से मैं समझ गयी थी कि एक-न-एक दिन वे पकड़े जायेंगे और उनको फांसी की सज़ा भी हो सकती है। इसके लिए मैंने अपना मन तैयार कर रखा है। कल यदि आप अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करेंगे तो मैं काका साहब को लड़ने के लिए जरूर भेजूंगी। इतना ही नहीं, मेरे दोनों बेटे यदि अंग्रेजों के खिलाफ़ लड़ते-लड़ते प्राण खो दें तब भी मैं नहीं रोऊंगी। किन्तु जिन अंग्रेजों का राज तोड़ने का काका साहब का निश्चय है उनके ही पक्ष में जर्मनों से लड़ने के लिए आप काका साहब को भेज रहे हैं, उसके लिए मेरी सम्मति कभी भी मिलनेवाली नहीं है।"

अनेक कारणों से यह योजना आगे नहीं बढ़ सकी पर काकी के चरित्र को प्रगट करने के लिए यह एक घटना ही काफ़ी है। बाद में, खुद गांधी जी ने अपनी गलती मानते हुए भरती बन्द कर दी। यह जानकर काकी बहुत प्रसन्न हुईं।

आश्रम जीवन की एक झलक

सन् 1917 में काका साहब आश्रम में आये। [illegible]
मिल गया। यहां की जीवन पद्धति अनोखी थी। सभी कुछ अपने हाथ से करना होता था। काका साहब यहां भी अपनी मौलिक सूझ का परिचय देते और नए-नए प्रयोग करते रहते। एक दिन प्रार्थना के बाद उन्होंने [illegible]
[illegible]
[illegible]

जोर-जोर से बहस करेंगे तो उसी जोश से बर्तन भी साफ होते रहेंगे।

काका शान्तिनिकेतन में यह प्रयोग कर चुके थे और उससे होने वाले लाभ से भी परिचित थे।

'फिर तो पूछना ही क्या था? नरहरि भाई, किशोरलाल भाई, देवदास आदि सभी चर्चा में भाग लेने लगे। जिनकी बारी नहीं होती थी, वे लोग भी भाग-भाग कर बर्तन लेकर बैठ जाते। चर्चा करते जाते और राख या मिट्टी लेकर बर्तन मांजते और धोते जाते। सत्याग्रहियों के लिए चर्चा के विषयों की कमी नहीं होती। मार्जन मंडल का काम पूरे वेग से चल निकला।' (समन्वय के साधक, बढ़ते कदम, पृ० 155)।

काका साहब आश्रम में शाला का कार्यभार सँभालने आये थे। उसके शिक्षक-मंडल में किशोरलाल भाई, नरहरि भाई, जुगतराम दवे, विनोबा, अप्पा साहब पटवर्धन और मगनलाल भाई जैसे दिग्गज थे। गाँधी जी की उपस्थिति तो प्रतिक्षण वहाँ रहती ही थी। काका साहब को मनचाहा काम मिल गया। इसी की तलाश में वे वर्षों उत्तर भारत में भटकते रहे थे। लेकिन यहाँ आकर एक परिवर्तन उनमें दिखाई देने लगा था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और चिन्तन मौलिक लेकिन यहाँ उन्होंने अपने को गाँधी जी में खो जाने दिया। काका साहब काका न रहकर गाँधी महाराज के शिष्य हो गये। फिर भी वह 'एक शिष्य' रहे, शिष्यों में एक नहीं हुए।

काका साहब की रुचि भारत के प्राचीन इतिहास, संस्कृति और दर्शन में विशेष रूप से थी लेकिन राजनीति, अर्थनीति और खगोल जैसे विषय भी उनसे नहीं छूटे। अपने विद्यार्थियों में भी वे इन विषयों के प्रति रुचि पैदा करने का पूरा प्रयत्न करते थे।

स्वदेशी का आरम्भ महाराष्ट्र, बंगाल तथा आर्य समाज से प्रभावित प्रदेशों में पहले से ही हो चुका था लेकिन गाँधी जी ने इसके शुद्ध रूप को प्रगट किया और एक महत्तर कार्य के लिए उसका सार्थक प्रयोग किया। काका ने इसके इसी महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए एक निबन्ध सन् 1919 में लिखा था। उसके अंग्रेजी अनुवाद को पढ़कर फ्रांसीसी मनीषी रोमां रोलां ने उन पर संकीर्णता का आरोप लगाया। इस प्रसंग को लेकर काका का उनसे पत्र-व्यवहार हुआ। अन्ततः मनीषी रोमां रोलां ने उस सिद्धांत के मूल तत्त्व को समझकर अपना आक्षेप वापस ले लिया और खेद भी प्रगट किया। इसी तरह प्रसिद्ध समाजशास्त्री श्री पैट्रिक गेडिज को भी इस सिद्धान्त में संकीर्णता दीख पड़ी परन्तु काका साहब ने जब उन्हें इसका रहस्य समझाया तो उन्होंने भी अपना विरोध वापस ले लिया।

आश्रम-जीवन तपस्या का जीवन था। काका साहब हर क्षेत्र में उस तपस्या में खरे उतरे। शुरू ही में श्री ठक्कर बापा के सुझाव पर गाँधी जी ने एक हरिजन

कुटुम्ब को आश्रम में रख लिया था। इसी परिवार के मुखिया दूधाभाई की पत्नी दानी बहन रसोई बनाने में मदद करने लगी। एक तूफान उठ खड़ा हुआ। कई परिवार आश्रम छोड़कर चले गये। श्रीमती कस्तूरबा गांधी तक ने दानी बहन के हाथ का पका खाना खाने से इंकार कर दिया।

ऐसी स्थिति थी जब गांधी जी ने काका साहब को आश्रम में आने की दावत दी। काका आने को तैयार हुए पर उनकी शर्त थी कि वह अकेले नहीं आयेंगे। उनके साथ उनकी पत्नी और दोनों बच्चे भी होंगे।

गांधी जी बहुत खुश हुए। कहाँ तो परिवार पर परिवार आश्रम छोड़कर जा रहे हैं और कहाँ एक व्यक्ति सपरिवार आने की शर्त रख रहा है। बात छुआ-छूत की नहीं थी। कुछ परिवार परिश्रम करने के डर से चले जाते थे। आश्रम का वातावरण बड़ा पवित्र था। सबको उसके नियमों के अन्तर्गत जीने की पूरी स्वतन्त्रता थी। लेकिन कइयों की मानसिकता सामन्ती थी। वे सेवा ले सकते थे, कर नहीं सकते थे। बहुत कम लोग उससे मुक्ति पा सके थे। काका उनमें एक थे।

एक बार एक अतिथि आश्रम से जा रहे थे। लोहे का एक बड़ा-सा ट्रंक था उनके पास। तांगा मिल नहीं रहा था। वह स्वयं उसे उठा नहीं सकते थे। गांधीजी ने काका साहब से कहा, "काका, इनका ट्रंक उठाकर एलीस ब्रिज तक ले जाओ। वहाँ तांगा मिल जाएगा।"

काका साहब ने उस ट्रंक को पीठ पर लादा और ब्रिज तक ले गये। कन कमर की चमड़ी थोड़ी उतर गयी थी और कमीज फट गयी थी। वैसलीन और आयोडीन लगाने पर चार दिन में कमर ठीक हो गयी। पर इस बारे में न गांधी जी ने कुछ पूछा न उन्होंने इस बात की कभी चर्चा की।

यह मात्र एक घटना नहीं थी। काका जहाँ छूट लेना चाहते थे, वहाँ [illegible] चूकते नहीं थे। खाना वहाँ अच्छा मिलता था पर घी-दूध वर्जित था। काका साहब ने गांधी जी से कहा, "आश्रम के अनेक नियम मुझे पसन्द हैं पर घी-दूध और मक्खन छोड़ने को जी नहीं चाहता। आश्रम में ये चीजें नहीं खाऊँगा पर बाहर लेने की इच्छा है अगर आप अनुमति [illegible]..."

राज के तो विरोधी नही थे परन्तु उनके चलाये शिक्षा-तंत्र से असन्तुष्ट थे। देश की प्रकृति और संस्कृति के अनुरूप एक राष्ट्रीय शिक्षण संस्थान की आवश्यकता को वे बडी तीव्रता से अनुभव करते थे।

अनेक सुधारक दलो और धार्मिक संस्थानों ने अपने-अपने विश्वविद्यालय स्थापित किये थे। आर्यसमाज के गुरुकुल और डी. ए. वी. कालेज समूह, हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय, ऐसे अनेक शिक्षा संस्थान थे, जो शासको के दृष्टिकोण से स्वतत्र रहकर अपनी सस्कृति के प्रति प्रेम पैदा करना चाहते थे।

जब देश में विदेशी शासन से मुक्ति की चाह बलवती हो उठी तब भी ऐसे प्रयोग हुए। लोकमान्य तिलक की प्रेरणा से पुणे-बम्बई के बीच तलेगाँव में 'समर्थ विद्यालय' की स्थापना हुई। विपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष जैसे बगाली नेताओ ने 'बगाल नेशनल कौंसिल ऑफ एजुकेशन' की स्थापना की। काका साहब के सार्वजनिक जीवन का आरम्भ भी एक राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान क़ायम करने से हुआ था। हिमालय यात्रा और उसके बाद अनेक शिक्षण संस्थानो का निरीक्षण और उनसे जुडना, ये सारी प्रवृत्तियाँ उनकी इसी आतरिक आकांक्षा और अभीप्सा की द्योतक थी।

आश्रम में भी वह शाला से जुडे थे। उनके वहाँ आने के दो वर्ष बाद देश में स्वाधीनता सग्राम का बिगुल बज उठा। उसने गांधी जी की असहयोग की नीति को स्वीकार कर लिया। उस समय सन् 1920 मे इस नीति के अनुरूप एक स्वतंत्र विश्वविद्यालय स्थापित करने का काम गुजरात में हुआ।

गुजरात-राज्य परिषद् का चौथा अधिवेशन श्री अब्बास तैयब जी के सभापतित्व मे अगस्त, 1920 में अहमदाबाद मे हुआ। उसी में गाँधी जी के असहयोग के कार्यक्रम को स्वीकार करने का प्रस्ताव पास हुआ। उस कार्यक्रम की एक धारा थी सरकारी स्कूलों और कालेजो का बहिष्कार। तभी यह अनुभव किया गया कि यदि इस धारा को सफल बनाना है तो इसका कोई विकल्प चाहिए। चिन्तन की इसी प्रक्रिया में से राष्ट्रीय विद्यापीठ की स्थापना का विचार प्रकट हुआ। और यह निश्चय किया गया कि गुजरात में एक राष्ट्रीय विद्यापीठ की स्थापना की जाए। इसके लिए बारह सदस्यों की एक राष्ट्रीय शिक्षा समिति नियुक्त की गयी। इनमें तीन सदस्य आश्रम के थे।

शुरू में उनका इस प्रस्ताव से कुछ मतभेद था। इतना ही कि वे चाहते थे काम नीचे से शुरू हो लेकिन जब सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित हो गया तो सभी लोग उसे सफल बनाने में जुट गये। किशोरलाल भाई और काका साहब सारे गुजरात में घूमते रहे, यह समझाने के लिए कि विद्यापीठ की स्थापना के पीछे मूल उद्देश्य क्या है, किस नीति का अवलम्बन हमें करना है और उसे कैसे संकीर्णता से

बचाना है, काका साहब ने कई लेख 'नव जीवन' और 'यंग इण्डिया' में लिखे। उन्होंने यह चेतावनी भी दी कि जिस राष्ट्र में अपने वर्तमान से ऊपर उठकर भविष्य को देखने की दृष्टि नहीं होती उसका विनाश निश्चित है।

विद्यापीठ की पहली प्रवृत्ति के रूप में गुजरात महाविद्यालय की स्थापना 15 नवम्बर, 1920 सोमवार के दिन, गांधी जी द्वारा हुई। उसके कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए आश्रम और उसकी शाला से काका कालेलकर पटवर्धन, विनोबा और नरहरि भाई आदि महानुभाव अपना कुछ-न-कुछ समय देने लगे। यह अपनी तरह का पहला महाविद्यालय था। इसलिए भारत भर में जिन-जिन विद्यार्थियों ने सरकारी शिक्षा संस्थानों से असहयोग किया था, वे सभी यहाँ आने लगे। कैसा उत्साह और उल्लास उमड पडा था तब ! सच्ची राष्ट्रीय भावना और त्याग-वृत्ति के कारण अध्यापकों और विद्यार्थियों के बीच विशेष प्रकार के सम्बन्ध बन गये थे जो सब प्रकार की सामन्ती वर्जनाओं से मुक्त थे।

काका साहब को पढाने के लिए वैसे तो अर्थशास्त्र का विषय सौंपा गया था लेकिन वास्तव में वह अंग्रेजी, प्राचीन इतिहास, धर्मशास्त्र आदि विषय भी पढाया करते थे। शुरू-शुरू में बाग्ला भाषा की कक्षाएँ भी वे लेते रहे थे। प्रार्थना के बाद उनके प्रवचन विद्यार्थियों में बहुत लोकप्रिय होते थे। वह बहुत नहीं बोलते थे लेकिन जो कुछ बोलते थे उसके पीछे उनका दर्द और उनकी अनुभूति साकार हो उठती थी।

शिक्षा का माध्यम क्या हो, इस पर भी विचार हुआ। गुजरात विद्यापीठ सारे देश में एकमात्र संस्था है, इसलिए गांधी जी के सिद्धान्तों के अनुसार यह माध्यम हिन्दी हो सकती है लेकिन काका साहब ने इसका विरोध किया। उनका तर्क था कि गुजरात विद्यापीठ के शिक्षा सम्बन्धी आदर्श अखिल भारतीय हैं लेकिन सेवा वह विशाल गुजरात की ही करेगा। इसलिए शिक्षा का माध्यम नीचे से ऊपर तक

की राष्ट्रभाषा हिन्दी है इसलिए द्वितीय भाषा के

ढग रहे। वह हिन्दी के
ने गुजराती का समर्थन
विद्यापीठ चल नहीं
का आग्रह उचित है',

ी काका साहब का था। उन्हीं
त प्राप्त प्राचार्य श्री असूदमल
न आगे चलकर इन्हीं से उनका
उन्होंने विद्यापीठ से अलग

हो जाना उचित समझा। उन्होंने बापूजी से कहा, "मेरा मुख्य काम आश्रम में है। गुजरात की जनता से मेरी सेवा माँगी इसलिए गुजरात विद्यापीठ की स्थापना में योग दिया। अब यह काम मेरे बिना अच्छी तरह चल सकेगा इसलिए मुझे आश्रम की शाला में आने की अनुमति दीजिये।" [समन्वय के साधक, बढ़ते क़दम, पृ० 185]

गांधी जी मान गये।

विद्यापीठ छोड़ने के बाद भी उनके सम्बन्ध विद्यार्थियों से बने रहे। अनेक सभा-समितियों के वह सदस्य थे। अनेक अध्यापक मार्ग-दर्शन के लिए उनके पास आते रहते थे। वह समूचे गुजरात के विद्यार्थियों के मित्र और सलाहकार बन गये थे। उनसे उनका पत्र-व्यवहार निरन्तर चलता था। उनकी रचनाएँ असंख्य लोगों को अनुप्राणित करती थीं। जिसकी मातृभाषा मराठी हो वह गुजराती के माध्यम से गुजरातवासियों का 'आपन जन' बन जाये, यह क्या कम आश्चर्य की बात है?

उधर गिदवानी जी भी बहुत दिन तक विद्यापीठ के लिए अनिवार्य न रह सके। सरदार वल्लभभाई पटेल उनसे ऊब गये और उन्होंने काका से कहा कि वह चाहते हैं, आचार्य कृपालानी विद्यापीठ में आवें। काका के वह परम मित्र थे। बुलाने पर तुरन्त आ गये। गिदवानी जी की उनसे भी नहीं बनी और थोड़े दिन बाद गिदवानी जी को विद्यापीठ छोड़ जाना पड़ा। तब कृपालानी जी ने काका साहब को फिर विद्यापीठ में आने का आमंत्रण दिया।

लेकिन काका साहब तब तक क्षय रोग से पीड़ित हो चुके थे।

'नवजीवन' के सम्पादक और गुजराती के लेखक

सन् 1922 में गांधी जी को छ वर्षों के लिए जेल के सींखचों के पीछे बन्द कर दिया गया। तब 'नवजीवन' के सम्पादक बने स्वामी आनन्द। अब तक वे व्यवस्थापक थे, लेकिन कुछ ही दिन बाद वे भी जेल में बन्द कर दिये गये। इसके बाद 'नवजीवन' को चलाने का भार काका साहब के कन्धों पर आ पड़ा। उनका नाम कहीं नहीं देखने को मिलेगा लेकिन 4 जून सन् 1922 के दिन 'नवजीवन' में उनका पहला लेख प्रकाशित हुआ। तब से लेकर फरवरी, 1923 तक 'नवजीवन' में जैसे उनके लेखों की बाढ़-सी आ गयी। अन्ततः वे भी राजद्रोह के अपराध में एक साल के लिए जेल में बन्द कर दिये गये। उन्होंने अपना अपराध स्वीकार करते हुए जो शब्द कहे थे, वे गांधी जी के शिष्य के अनुरूप ही थे, "गांधी जी की गैरहाजिरी में 'नवजीवन' चलाने की जिम्मेदारी मेरे सिर पर थी। मेरे लेखों में

काका कालेलकर

काका ने बहुत कुछ सीखा और प्रेमी
ा बूढा नही होता।

नेनानी और क्षय रोग

ात के राजनेताओ ने उनका सम्मान
(13 मई को) होने वाली राजनैतिक
ा अनुमति से ही उन्होने वह पद स्वीकार
ाना करने के अतिरिक्त वह राजनीति

बेळगाव मे हुआ। गाँधी जी उसके
ा गगाधर राव देशपाण्डे। उन्होने एक
ाँधी जी से माँग ली और उनके ही

के। यह उनकी मौलिक प्रतिभा का
ब्राह्मण स्वयसेवक माँगे। और उनको
के आश्रम का तो हूँ पर मेरी जातिनिष्ठा
प्रेस के लिए पाखाने खड़े करना और उन्हें
वित्र ब्राह्मण ही पसद करते हैं'''उनके जाति
खाने साफ करने को तैयार हुए हैं तब अभिमान
ा।" [समन्वय के साधक, पृ० 174]
कर लोग खूब हँसे परन्तु दूसरी जाति वाले भी यह
आग्रह पर काका ने पच्चीस प्रतिशत स्वयसेवक दूसरी

ा है कि उनके काम की खूब प्रशसा हुई। विरोधी पक्ष वाले
को आत्मश्लाघा कह सकते है। काका इतने विनम्र भी नहीं

उनके काम का विस्तार होता जा रहा था पर, उसी अनुपात से
ा चला जा रहा था। उनकी पत्नी भी बीमार थी। ग्यारह महीने
वियोग उन्होंने बहादुरी से सहा। काका स्वय जेल मे सख्त बीमार
मे, बहुत पहले, जब वे कालेज मे पढ़ते थे तो बेळगाव मे डाक्टर ने
, कि "आपके नाना के वश मे क्षय रोग है। आप अपने स्वास्थ्य

लिखने में भी पारंगत हो गये। इस तरह उन्हें गुजराती का लेखक बनाने का श्रेय स्वामी आनन्द को है।

उनकी रचनाएँ सन् 1917 से ही गुजराती में छपने लगी लेकिन स्वतन्त्र रूप में प्रथम रचना प्रकाशित हुई, सन् 1920 में। उस वर्ष गुजराती साहित्य परिषद् का अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ था। उसमें कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर मुख्य अतिथि के रूप में पधारे थे। तब काका साहब ने उनके संबंध में एक लम्बा लेख गुजराती में लिखा था। उन्हीं के शब्दों में, "यही था मेरी क़लम से लिखा हुआ सर्वप्रथम गुजराती लेख। इससे पहले मैं मराठी में लिखता और आश्रमवासियों की मदद से उसका गुजराती कर लेता।" [समन्वय के साधक, पृ० 154]

काका साहब आश्रम के विद्यार्थियों को अपनी हिमालय की यात्रा के संस्मरण भी सुनाया करते थे, जो सबसे पहले आश्रम की हस्तलिखित पत्रिका में प्रकाशित हुए। बाद में वे ही गुजराती में हिमालयनो प्रवास के नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। इस पुस्तक ने उन्हें गुजराती के एक सशक्त लेखक के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

'नवजीवन' में प्रकाशित उनके लेखों की चर्चा करते हुए उनके एक जीवनीकार श्री पाण्डुरंग देशपाण्डे ने लिखा है—"धार्मिक पर्वों और जयन्तियों से लेकर प्रचलित राजनीतिक अथवा सामाजिक प्रश्नों की चर्चा करनेवाली इस काल की उनकी रचनाएँ उनके साहित्य में सबसे अधिक ओजस्विनी और उतनी ही विपुल रही है। उनके सभी लेख-संग्रहों की बुनियाद-जैसी ये रचनाएँ गुजराती में 'कालेलकरना लेखो' नाम से बड़े आकार में कोई आठ सौ पृष्ठों के ग्रन्थ में एक जगह पढ़ने को मिलती हैं। स्वातन्त्र्य और देश-प्रेम की भावना से उद्दीप्त कालेलकर की पहचान गुजरात को उन्हीं लेखों द्वारा हुई और आबाल वृद्ध गुजरात उसे कभी भूला नहीं।"

[संस्कृति के परिव्राजक, पृ० 154]

इस बार के जेल प्रवास में उन्होंने एक पुस्तक लिखी, 'ओतराती दीवालो' (उत्तर दिशा की दीवार)। इस छोटी-सी पुस्तक में उनका प्रकृति-प्रेम मोहक रूप में उजागर हुआ है। इसी पुस्तक में काका साहब ने देवबन्द के प्रसिद्ध मौलाना हुसैन महमूद मदनी के साथ घनिष्ठ परिचय होने की बात भी लिखी है। दोनों साबरमती जेल में थे। मौलाना इस्लामी रवायत के मुताबिक नमाज की सूचना देने के लिए अजान देते थे। अधिकारियों ने ऐसा करने के लिए मना किया तो मौलाना ने उसके विरोध में सत्याग्रह और उपवास करने का निश्चय किया। काका साहब ने भी उनका साथ दिया। दोनों को सजा हुई। दोनों को एक साथ एक अलग कोठरी में रखा गया। काका को कोई एक धर्मग्रंथ रखने की छूट थी। उन्होंने कुरान शरीफ़ का मराठी अनुवाद चुना, जिसे वे रोज पढ़ते और उसके गूढ़ अर्थ मौलाना

के पास सीखने। उन धर्मनिष्ठ विद्वान से काका ने बहुत कुछ सीखा और प्रमाणित कर दिया कि सीखने के लिए आदमी कभी बूढ़ा नहीं होता।

स्वाधीनता संग्राम के सेनानी और क्षय रोग

सन् 1924 में जेल से छूटने के बाद गुजरात के राजनेताओं ने उनका सम्मान करने का निश्चय किया। उन्हें बोरसद में (13 मई को) होने वाली राजनैतिक परिषद् का अध्यक्ष चुना गया। गांधी जी की अनुमति से ही उन्होंने वह पद स्वीकार किया। लेकिन तीन दिन परिषद् की अध्यक्षता करने के अतिरिक्त वह राजनीति से अलिप्त ही रहे।

उसी वर्ष राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन बेळगाव में हुआ। गांधी जी उसके अध्यक्ष चुने गये। और स्वागताध्यक्ष हुए श्री गंगाधर राव देशपाण्डे। उन्होंने एक मास के लिए काका साहब की सेवाएँ गांधी जी से मांग ली और उनके ही सुझाव पर उन्हें सफ़ाई का काम सौंपा।

यहाँ भी काका व्यंग्य करने से नहीं चूके। यह उनकी मौलिक प्रतिभा का प्रमाण है। उन्होंने अपने लिए डेढ़ सौ ब्राह्मण स्वयंसेवक मांगे। और उनको सम्बोधित करते हुए कहा, "मैं गांधी जी के आश्रम का तो हूँ पर मेरी जातिनिष्ठा कहाँ जाएगी। मैं ब्राह्मण हूँ इसलिए कांग्रेस के लिए पाखाने खड़े करना और उन्हें *साफ़ करना जैसे काम के लिए मुझे पवित्र ब्राह्मण ही पसंद करने हैं*···उनके जाति वाले जब देखेंगे कि हमारे लड़के पाखाने साफ़ करने को तैयार हुए हैं तब अभिमान से फूलने का मौक़ा उनको मिलेगा।" [समन्वय के साधक, पृ० 174]

उनकी 'जातिनिष्ठा' देखकर लोग खूब हँसे परन्तु दूसरी जाति वाले भी यह पुण्य लेना चाहते थे। उनके आग्रह पर काका ने पच्चीस प्रतिशत स्वयंसेवक दूसरी जातियों में से लिये।

उन्होंने स्वयं लिखा है कि उनके काम की खूब प्रशंसा हुई। विरोधी पक्ष वाले इस सूचनात्मक तथ्य को आत्मश्लाघा कह सकते हैं। काका इतने विनम्र भी नहीं थे।

इस प्रकार उनके काम का विस्तार होता जा रहा था पर, उसी अनुपात से स्वास्थ्य गिरता चला जा रहा था। उनकी पत्नी भी बीमार थी। ग्यारह महीने तक पति का वियोग उन्होंने बहादुरी से सहा। काका साहब जेल में स्वयं बीमार हो गये। वास्तव में, बहुत पहले, जब वे कालेज में पढ़ते थे तो बेळगाव में डाक्टर ने उन्हें चेतावनी दी थी, कि "आपके नाना के वंश में क्षय रोग है। आप अपने स्वास्थ्य

आश्रम लौटे तो गांधी जी ने उनसे कहा, "विद्यापीठ का मामला उलझन में पड़ा है। इसका भार सँभालकर तुम्हें ही यह सुलझाना होगा। वह है तो तुम्हारी ही कृति।"

काका साहब ने उत्तर दिया "मुझे सब मालूम है। आपको निश्चिन्त करने के लिए मैं विद्यापीठ का दायित्व उठाने को तैयार हूँ। कृपालानी जी मेरे अनन्य मित्र हैं। हमारे बीच गलतफहमी होने की सम्भावना ही नहीं।"

लेकिन गलतफहमी हो गयी। गांधी जी कृपालानी जी को खादी के काम के लिए मेरठ भेजना चाहते थे और वह गुजरात छोड़ना नहीं चाहते थे। कृपालानी जी ने काका साहब से कहा, "बापू जी का यह रुख तुम जानते थे तो पहले ही मुझे चेतावनी देने का तुम्हारा धर्म था। इस मित्र धर्म का तुमने पालन नहीं किया यह सचमुच आश्चर्य की बात है।"

काका साहब ने उत्तर दिया, "बापू जी जब मेरे साथ खानगी में बात करते हैं तब मैं कैसे यह बात किसी से कह सकता हूँ। बापू जी ने मुझे विश्वास दिलाया था कि कृपालानी को मैं संभाल लूंगा। इसलिए मैं निश्चित था।"

[समन्वय के साधक, पृ० 187]

कृपालानी जी आश्वस्त नहीं हुए और दो मित्रों के बीच जो हार्दिक सम्बन्ध था उसमें दरार पड़ गयी। इससे काका साहब को बहुत पीड़ा हुई। लेकिन गांधी जी का आदेश था, उन्होंने कार्यभार संभाल लिया।

विद्यापीठ के कार्य में शिथिलता आने के कई कारण थे। मुख्य कारण यह था कि असहयोग आन्दोलन बन्द हो जाने के कारण बहुत से व्यक्तियों का मोह भंग हो गया था। स्वराज्य की कल्पना दूर चली गयी थी। संयोग से गुजरात के बाहर के अनेक आचार्य आ जाने के कारण प्रान्तीयता भी उभर आयी थी। गांधी तत्व-ज्ञान का जैसा प्रभाव होना चाहिए था, वह नहीं हो रहा था।

बहुत परिवर्तन करने पड़े उन्हें। बहुतों का कोपभाजन बनना पड़ा, पर वे अडिग रहे। उन्होंने इस बार सांस्कृतिक विकास और स्वावलम्बी उद्योग दोनों में समन्वय साधने का प्रयत्न किया। कालांतर में जो बुनियादी शिक्षा के नाम से जानी गयी, उसकी कल्पना काका साहब ने इस समय कर ली थी और उसे रूप देने का प्रयत्न भी किया था।

इसी अवधि में बारदोली सत्याग्रह शुरू हुआ। काका साहब ने कुछ विद्यार्थियों को चुनकर वहाँ भेजा लेकिन वल्लभभाई पटेल चाहते थे कि सारा विद्यापीठ सत्याग्रह में कूद पड़े। काका साहब ने उत्तर दिया कि कुछ विद्यार्थी मैंने भेजे हैं। विद्यापीठ बन्द करने की जरूरत मुझे नहीं लगती। हाँ, जिस दिन आप या बापू स्वराज्य की अन्तिम लड़ाई लड़ेंगे तब हम सब उसमें रहेंगे। यह सत्याग्रह महत्त्वपूर्ण है पर स्थानीय है। सार्वदेशिक नहीं। दस व्यक्ति सत्याग्रह में भाग लेने बराबर

का ध्यान रखिये और मन-ही-मन जपते भी जाया ही कीजिए।"

काका साहब ने उनकी सलाह न मानी। इसलिए जब जब डॉक्टर और वैद्य दोनों ने शरीर में क्षय रोग होने की पुष्टि कर दी तो उन्हें अचरज नहीं हुआ। स्वामी आनन्द ने अब उनका भार संभाल लिया। न जाने कहाँ से पैसे लाए! कहाँ-कहाँ ले गये। नर्मदा किनारे, पूना के पास चिंचवड़, सिंहगढ़ और समुद्र के किनारे बोर्डी। सेवा में लगे छगनलाल भाई, गंगाबा और स्वामी आनन्द। पूज्य बापू के पत्र तो थे ही। काका साहब के मन में प्रश्न उठता, 'क्या मैं इस योग्य हूँ।'

तबियत तो सुधरी पर रोग से मुक्ति नहीं मिली। तब स्वामी आनन्द उन्हें अहमदाबाद आश्रम में ले आये। डॉ. तलवलकर ने इंजेक्शन देने का प्रस्ताव रखा। काका रासायनिक इंजेक्शन लेने को राजी हुए। बाइस इंजेक्शन लगे पर रोग से मुक्ति मिल गयी। इस अवधि में काकी और बेटा सतीश बराबर पास रहे। यह सन् 1927 के अंत की बात है।

बाद में नैसर्गिक उपचार भी किया। तबियत कैसे सँभालनी चाहिए, यह सीखा। सुख-दुख से अलिप्त हो रहने का सूत्र सीखा। तब से 'मनुष्य को चिन्ता नहीं, चिन्तन करना चाहिए' यह उनका जीवन सूत्र बन गया।

काका साहब ठीक हो गये लेकिन डॉ. तलवलकर की देख-रेख के बावजूद काकी का स्वास्थ्य सुधरता ही नहीं था। लाचार होकर काका साहब उन्हें उनकी माँ के पास छोड़ आये।

एक बार वहाँ तबियत कुछ सुधरी पर रोग ने फिर आक्रमण किया। 'अब नहीं बचूँगी' ऐसा जानकर उन्होंने आश्रम में आने की अनुमति चाही। काका तब विद्यापीठ में रहते थे। वे महादेव भाई के घर में रहीं और वहीं सन् 1929 में उन्होंने अन्तिम साँस ली। सब लोग तब उनके पास थे। आयु कुल चालीस वर्ष की थी। काका के शब्दों में, "साबरमती के किनारे उसकी देह को हमने अग्नि को अर्पण किया और केवल उसकी स्मृति ही शेष रह गयी। मेरे आश्रम-जीवन के साथ पूर्ण रूप से एक होकर काकी ने मुझे और मेरे साथियों को सन्तोष दिया था।

[समन्वय के साधक, पृ० 144]

इससे अधिक एक साधक पति और क्या कहे!

विद्यापीठ की पुनर्रचना और डांडी मार्च

गुजरात विद्यापीठ की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। आचार्य कृपलानी ने चाहा था कि काका फिर वहाँ आवें पर वह क्षय रोग से पीड़ित हो चुके थे। जब ठीक होकर

आश्रम छोड़ने की गांधी जी ने उनसे कहा, "विद्यापीठ का मामला उलझन में पड़ा है। उसका भार सँभालकर तुम्हें ही यह सुलझाना होगा। वह है भी तुम्हारी ही कृति।"

काका साहब ने उत्तर दिया "मुझे सब मालूम है। आपको निश्चिन्त करने के लिए मैं विद्यापीठ का भार उठाने को तैयार हूँ। कृपालानी जी मेरे अन्तरंग मित्र हैं। हमारे बीच गलतफहमी होने की सम्भावना ही नहीं।"

लेकिन गलतफहमी हो गयी। गांधी जी कृपालानी जी को खादी के काम के लिए मेरठ भेजना चाहते थे और वह गुजरात छोड़ना नहीं चाहते थे। कृपालानी जी ने काका साहब से कहा, "बापू जी का यह रुख तुम जानते थे तो पहले ही मुझे चेतावनी देने का तुम्हारा धर्म था। इस मित्र धर्म का तुमने पालन नहीं किया यह सचमुच आश्चर्य की बात है।"

काका साहब ने उत्तर दिया, "बापू जी जब मेरे साथ खानगी में बात करते हैं तब मैं कैसे वह बात किसी से कह सकता हूँ। बापू जी ने मुझे विश्वास दिलाया था *कि कृपालानी को मैं सँभाल लूँगा। इसलिए मैं निश्चिन्त था।"*

[समन्वय के साधक, पृ० 187]

कृपलानी जी आश्वस्त नहीं हुए और दो मित्रों के बीच जो हार्दिक सम्बन्ध था उसमें दरार पड़ गयी। इससे काका साहब को बहुत पीड़ा हुई। लेकिन गांधी जी का आदेश था, उन्होंने कार्यभार संभाल लिया।

विद्यापीठ के कार्य में शिथिलता आने के कई करण थे। मुख्य कारण यह था कि असहयोग आन्दोलन बन्द हो जाने के कारण बहुत से व्यक्तियों का मोह भग हो गया था। स्वराज्य की कल्पना दूर चली गयी थी। संयोग से गुजरात के बाहर के अनेक आचार्य आ जाने के कारण प्रान्तीयता भी उभर आयी थी। गांधी तत्व-ज्ञान का जैसा प्रभाव होना चाहिए था, वह नहीं हो रहा था।

बहुत परिवर्तन करने पड़े उन्हें। बहुतों का कोपभाजन बनना पड़ा, पर वे अडिग रहे। उन्होंने इस बार सांस्कृतिक विकास और स्वावलम्बी उद्योग दोनों में समन्वय साधने का प्रयत्न किया। कालांतर में जो बुनियादी शिक्षा के नाम से जानी गयी, उसकी कल्पना काका साहब ने इस समय कर ली थी और उसे रूप देने का प्रयत्न भी किया था।

इसी अवधि में बारदोली सत्याग्रह शुरू हुआ। काका साहब ने कुछ विद्यार्थियों को चुनकर वहाँ भेजा लेकिन बल्लभभाई पटेल चाहते थे कि सारा विद्यापीठ सत्याग्रह में कूद पड़े। काका साहब ने उत्तर दिया कि कुछ विद्यार्थी मैंने भेजे हैं। विद्यापीठ बन्द करने की जरूरत मुझे नहीं लगती। हाँ, जिस दिन आप या बापू स्वराज्य की अन्तिम लड़ाई लड़ेंगे तब हम सब उसमें रहेंगे। यह सत्याग्रह महत्त्वपूर्ण है पर स्थानीय है। सार्वदेशिक नहीं। दस व्यक्ति सत्याग्रह में भाग लेने बराबर

आवेंगे पर विद्यापीठ बन्द नहीं होगा।

उसके बाद फिर उधर से कोई आपत्ति नहीं हुई पर एक समय ऐसा आया कि स्वयं गांधी जी सरदार के बुलाने पर वहाँ गये। तब सरकार झुकी और समझौता-वार्ता शुरू हुई। उसमे सरकार ने अपनी ओर से जो दो व्यक्ति नियुक्त किये, उनमे एक थे नरहरिभाई। वह विद्यापीठ के महामन्त्री थे। और काका साहब के अपने आदमी थे। उनके बिना वह विद्यापीठ नहीं चला सकते थे। लेकिन फिर भी काका साहब ने उन्हें जाने दिया। उन्होंने किसानों के पक्ष का इतनी कुशलता से समर्थन किया कि सरकार के प्रतिनिधि चकित रह गये।

अन्त मे समझौता हो गया।

इन्ही दिनों काका साहब ने एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने गुजराती भाषा को इस सीमा तक अपना लिया था कि गांधी जी ने उन्हें 'सवाई गुजराती' की प्रिय उपाधि प्रदान की। उन्होंने जेल से काका को लिखा था कि जितनी जल्दी हो सके गुजराती भाषा की वर्तनी को एक रूप देने का प्रयत्न कीजिये। जेल से छूटने पर उन्होंने काका साहब, महादेव भाई तथा नरहरि भाई की एक समिति इस काम के लिए नियुक्त भी की। साहित्य-परिषद् की वर्तनी समिति ने भी कुछ काम किया। विद्यापीठ ने भी अपनी एक वर्तनी समिति गठित की। उसके संयोजक थे नरहरि भाई। इन सब प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि विद्यापीठ ने गुजराती भाषा का एक सर्वमान्य और सुव्यवस्थित 'जोड़नी कोष' (वर्तनी कोष) तैयार कर दिया। यह कोष निरन्तर समृद्ध होता रहा है और गुजराती भाषा के लिए मानक बन गया है।

विद्यापीठ की प्रवृत्तियों में एक और प्रवृत्ति थी—ग्राम सेवा मन्दिर की स्थापना। गांधी जी के विशिष्ट अनुयायी श्री नगीनदास अमूलख राम ने गुजरात के गांवों के उत्कर्ष के लिए शिक्षा की व्यवस्था हो सके, इस विचार से एक लाख रुपये दिये थे। उसी से यह मन्दिर स्थापित हुआ। उसके अन्तर्गत आर्थिक जाँच आदि का काम सफलतापूर्वक हुआ।

सन् 1929 में लाहौर मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। यह अधिवेशन कांग्रेस के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी अधिवेशन मे श्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में सम्पूर्ण स्वातंत्र्य का प्रस्ताव पास किया गया और 26 जनवरी, 1930 के दिन सारे देश में सम्पूर्ण स्वातंत्र्य की प्रतिज्ञा ली गयी। उस दिन विद्यापीठ की सवेरे की प्रार्थना के बाद काका साहब ने गद्गद होकर कहा, 'वर्षों से मैं जिस घड़ी की राह देख रहा था वह आ पहुँची है। यह घड़ी धन्य है। हम सबके लिए, देश के लिए धन्य है।"

और वह उसकी तैयारी में जुट गये। उधर गांधी जी बड़ी गंभीर/ सोच रहे थे कि अब उन्हें क्या करना है! एक दिन उन्होंने नमक . . .

का निश्चय करके विश्व को चकित कर दिया। "मैंने घुटने टेककर वायसराय से रोटी की याचना की थी परन्तु उन्होंने उसके बदले मे पत्थर दे दिया"

इसके बाद 12 मार्च सन् 1930 को वे अपनी प्रसिद्ध डाडी-यात्रा पर चल पड़े। हाथ में दण्ड, कमर मे लटकती घडी, बड़े-बड़े पग, वह एक ऐतिहासिक भव्य दृश्य था। 24 दिन बाद 5 अप्रैल, 1930 को वह अनोखा योद्धा सागर तट पर पहुँचा और अगले दिन सवेरे 6 अप्रैल, 1930 को साढ़े आठ बजे समुद्र मे स्नान करके, बच्चो के खिलवाड की तरह नमक का एक टुकड़ा उठा लिया। संसार हँस पड़ा था परन्तु उसी क्षण नमक के उस जरा से टुकड़े से एक प्रचण्ड ज्वाला फूटी, जिसने सारे देश को पागल बना दिया।

[स्वाधीनता संग्राम, विष्णु प्रभाकर, पृ० 75-76]

विद्यापीठ के लगभग सभी अध्यापक और विद्यार्थी इस स्वतन्त्रता संग्राम मे भाग लेने को उत्सुक हो उठे। वह स्वराज्य युद्ध की एक छावनी के रूप मे बदल गया। उनमें कुछ ऐसे भी थे जो इस संग्राम मे भाग नहीं ले सकते थे या नहीं लेना चाहते थे। एक थे संगीत के अध्यापक। वे समय रहते विद्यापीठ छोड़कर चले गये। कला के आचार्य जेल नहीं जाना चाहते थे पर उन्होंने डाडी कूच मे साथ रहकर फिल्म बनाने और उसे जनता को दिखाने की इच्छा व्यक्त की पर काका साहब सहमत नही हो सके। वे स्वतन्त्रता के बिना संस्कृति, साहित्य और ऐहिक ऐश्वर्य को तृणवत् मानते थे। यहाँ मतभेद की गुंजाइश है पर हर युद्ध में ऐसे अवसर आते है, जहाँ भावना के लिए स्थान नहीं होता। काका साहब ने ग़लत-फ़हमी का खतरा उठाकर भी एक समय के अपने शिष्य और साथी को विद्यापीठ की सेवाओं से मुक्त करने में संकोच नहीं किया।

इस संग्राम मे विद्यापीठ ने जो अमूल्य योगदान किया उसके लिए गांधी जी के ये शब्द प्रमाण है, "गुजरात ने विद्यापीठ पर जो कुछ भी खर्च किया है देश को उसका लाभ चक्रवृत्ति ब्याज के साथ मिल चुका है। विद्यापीठ को सौ फ़ीसदी सफलता मिली है।"

इसी समय गुजरात के बाहरवालों ने उनका एक शिक्षा शास्त्री के रूप में सम्मान करने का निश्चय किया। ये बाहर वाले और कोई नहीं उनके अपने प्रान्त महाराष्ट्र के थे। सन् 1930 में महाराष्ट्र की समस्त राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं ने जलगांव में सातवें महाराष्ट्रीय राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् का अधिवेशन बुलाया और उसके अध्यक्ष पद पर काका साहब को प्रतिष्ठित किया। जब से काका गुजरात जाकर रहने लगे थे महाराष्ट्र के लोगों ने उन्हें गुजराती मान लिया था। कैसी अद्भुत बात थी, महाराष्ट्रवासी उनको अस्वीकार करें और गुजराती 'सवाई गुजराती' मानें। इसे काका अपना सौभाग्य मानते थे पर जब उसी महाराष्ट्र ने उन्हें राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् का अध्यक्ष चुना तो उन्होंने दोनों बेटों के साथ लिखा,

"यदि शांति के दिन होते तो राष्ट्रीय शिक्षण की अखिल भारतीय योजना मैं वहां पेश करता और अच्छे शिक्षण शास्त्री को शोभा दे सके ऐसा एक बड़ा व्याख्यान भी तैयार करता। उसमें 'स्वतन्त्र भारत शिक्षा द्वारा विश्व सेवा कैसे कर सकता है'—इसका व्यापक आदर्श मैं राष्ट्र के सामने प्रस्तुत करता किन्तु सन् 1930 में मैं शिक्षा शास्त्री न रहकर जगत् के सामने युद्ध की नयी कला पेश करनेवाले 'युद्ध ऋषि' महात्मा का एक सेनानायक बन गया था। तलेगांव राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् के परिणामस्वरूप बहुत से महाराष्ट्रीय स्वराज्य की लड़ाई में कूद पड़े, इसलिए मेरा वहां जाना सफल हुआ।" [समन्वय के साधक, पृ० 191]

इस कथन में आत्मविश्वास भी है और सम्भरण भी। काका अपने भीतर की शक्ति को विनम्रता के झीने आवरण में नहीं छिपाते। शायद यह महाराष्ट्र की विशेषता है।

विद्यापीठ के तत्त्वावधान में उन्होंने एक राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन की योजना तैयार की। उसी के साथ एक छात्रालय सम्मेलन भी होना था। राष्ट्रीय शिक्षा के प्रति वह प्रतिबद्ध थे पर सन् 1930 का वर्ष तो कुछ और ही योजना लेकर आया था। स्वतन्त्रता उनके लिए सर्वोपरि थी। उनके भीतर जो शिक्षण शास्त्री था, उसे आधा स्थान स्वाधीनता संग्राम के सेनापति को देना पड़ा।

यह एक व्यावहारिक समझौता था।

छात्रालय सम्मेलन की कल्पना का आधार था पर, उसके द्वारा मौन क्रांति लाने का विचार काका साहब का अपना था। उस समय गुजरात में अनेक छात्रावास थे पर वे सब जातीय आधार पर थे। जिस जाति के लिए वह छात्रावास होता उसी जाति के विद्यार्थी उसमें आ सकते थे। काका साहब ने लिखा है, "गुजरात में ऐसे छात्रालय स्वाभाविक और सुविधाजनक हैं लेकिन समस्त देश के सांस्कृतिक विकास के लिए यह व्यवस्था जोखिम भरी ही नहीं विनाशकारक भी है।—इस व्यवस्था को तोड़ने की जरूरत है, यह बात लोगों को रचनात्मक ढंग से समझाने के लिए हमने छात्रालय परिषद् की योजना बनायी थी। उसके द्वारा सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति अमल में लाने का हमारा लक्ष्य था। पर हम स्वराज्य के आंदोलन में फँस गये। दूसरे और भी महत्त्व के काम आ गये, इसलिए छात्रालय सम्मेलन की प्रवृत्ति आगे नहीं बढ़ी। [समन्वय के साधक, पृ० 192]

काका साहब राष्ट्रीय शिक्षण को केवल राजनैतिक एकता का साधन नहीं मानते थे। उसके लिए वह समग्र और सर्वग्राही था, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से परिपूर्ण और संयुक्त।

बापू के साथ जेल-जीवन

नमक सत्याग्रह में भाग लेने के कारण जब काका साहब को सजा हुई तो उन्हें राजबन्दी गांधी जी के साथी के रूप में यरवदा जेल में रखा गया। उनके लिए यह एक दुर्लभ सुयोग था और इसका उन्हें भरपूर लाभ मिला। 'नमक के प्रभाव' नाम की पुस्तक में उन्होंने इस जेल-प्रवास का सुन्दर वर्णन किया है। चिन्तन-मनन के साथ उसको कागज पर उतारने की ललक भी काका में खूब थी। अपने को व्यक्त करने का यह साधन उन्हें न मिला होता तो अन्दर का ज्वालामुखी फट गया होता।

काकासाहब ने जेल-प्रवास के दौरान कई और रूपों में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। वह खादी भक्त थे, चर्खा चलाते थे। पर वह चरखे को और अधिक उपयोगी बनाने की यन्त्र बुद्धि भी रखते हैं, यह गांधी जी नहीं जानते थे।

वे कैसे उथल-पुथल के दिन थे! एक ओर देश के दीवाने जेल भर रहे थे दूसरी ओर समझौता वार्ता के लिए भी सरकार उत्सुक थी। डॉ. सप्रू और डॉ जयकर मध्यस्थता का काम कर रहे थे। उनको नेताओं से बात करने में सुविधा हो, इस लिए उसने सर्वश्री मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, सरोजिनी नायडू, सैयद महमूद और जयरामदास दौलतराम को भी कुछ समय के लिए यरवदा जेल में रख दिया था।

गांधी जी भी अद्भुत प्राणी थे। एक तरफ़ तो राष्ट्रीय महत्त्व की इतनी जटिल वार्ताएँ और दूसरी ओर चरखे को लेकर काका साहब के साथ मगजपच्ची। एक दिन काका बोले, "बापूजी, आप मेरी गुजराती भाषा की भक्ति और साहित्य का विकास करने की वृत्ति के बारे में तो जानते हैं पर मेरे पास यन्त्र को समझने का दिमाग भी है, यह नहीं जानते।"

बापू हँसकर बोले, "आपको अपना दावा साबित करना होगा। मेरी एक उलझन है। तकुओं पर से सूत उतारने के लिए मुझे एक हाथ में तकुआ पकड़ना पड़ता है, और दूसरे हाथ से चर्खे का चक्र घुमाता हूँ। अब यदि दो में से एक हाथ छूटा रह सके, ऐसी सहूलियत आप निकाल सकें तो मैं मानूंगा आप में यन्त्र बुद्धि है।"

काका सहमत हो गये। जेल में ह्वीलर नाम का एक यूरोपियन क़ैदी था। उसे बुलाकर काका साहब ने अपनी बात समझा दी। उसने सूत से भरा हुआ तकुआ जिसमें टिक सके, ऐसी रोमन लिपि के यू (U) के आकार की एक छोटी-सी चीज एक एल्यूमिनियम के टुकड़े में से बना दी। गांधी जी बहुत खुश हुए और उसके बाद दोनों चर्खे को लेकर खूब चर्चा करने लगे। गांधी जी ने बाद में जिस यरवदा

इस विषय में इतनी रुचि उत्पन्न हो गयी है और मैं इस शास्त्र की धार्मिक उपयोगिता को समझने लगा हूँ।"

चाहकर भी काका साहब तब यह काम पूरा न कर पाये।

काका साहब में बहुत से गुण थे पर नियमितता उनमें नहीं थी। जहाँ तक सम्भव होता अनियमित रहना उनका स्वभाव बन गया था। ऐसा भी क्या कि स्वतन्त्र मनुष्य समय का दास बने। उसके अतिरिक्त वह कभी हाथ से नहीं लिखते थे। सदा एक गणेश चाहिए होता था उन्हें।

जब वे जेल में गाँधी जी के साथी बने तो विचित्र स्थिति हो गयी। काका जितने अनियमित, गाँधी उतने ही नियमित। एक दिन क्या हुआ, सब हिसाब लगा कर देखने के बाद गाँधी जी को लगा कि उनके पास आधा-पौन घण्टा बच रहता है। तब पूरी गम्भीरता से उन्होंने काका साहब से पूछा, "मेरे पास पौन घण्टे का समय बचा है। आपको कुछ लिखवाना हो तो मैं तैयार हूँ।"

काका तो लाज के मारे धरती में समाने जैसे हो गये। उस दिन से उन्होंने हाथ से लिखना आरम्भ कर दिया, पर युगों की पड़ी आदत कैसे छूटे! कुछ समय बाद वे फिर पुरानी आदत का शिकार हो गये।

कवि हृदय, प्रकृति प्रेमी, नक्षत्र विद्या का उपासक नियमित कैसे हो सकता है लेकिन साथ हो, वे गाँधी तत्त्व-विज्ञान के उपासक भी थे। उनके आलोचक कहते रहे कि प्रयत्न करें तो दो ध्रुवों के बीच सुवर्ण मध्य प्राप्त हो सकता है।

विद्यापीठ से मुक्ति तक

गाँधी-इरविन समझौते के बाद जब युद्ध विराम हुआ तो काका साहब ने विद्यापीठ में सुराज्य विद्यालय आरम्भ किया। उसका उद्देश्य यह था कि स्वराज्य के सैनिक युद्ध विराम को कहीं युद्ध का अन्त न मान बैठें। बल्कि पिछले युद्ध से सीख लेकर नये की तैयारी करें। उन्हें लगता था कि संघर्ष लम्बा चलेगा। हुआ भी वही। गाँधी जी के गोलमेज कान्फ्रेंस से बैरंग लौटने से पूर्व ही लार्ड विलिंगडन का दमन-चक्र शुरू हो गया। जैसे ही गाँधी जी लौटे, सरकार ने एक सर्वग्रासी अध्यादेश निकालकर राष्ट्रनिर्माण की सभी प्रवृत्तियों को समाप्त कर दिया। विद्यापीठ भी उस आक्रमण से नहीं बच सका। सरकार ने सभी कार्यकर्ताओं को जेल में डाल दिया और विद्यालय को अपने अधिकार में ले लिया। काका साहब इस बार बेलगाँव व फिर हिंडलगा जेल में रहे। किन्तु उनका मन अशान्त रहता था। उन्हें लगा कि अब उन्हें साधारण जीवन समाप्त करके कोई आध्यात्मिक

इस विषय में इतनी रुचि उत्पन्न हो गयी है और मैं इस शास्त्र की धार्मिक उपयोगिता को समझने लगा हूँ।"

चाहकर भी काका साहब तब यह काम पूरा न कर पाये।

काका साहब में बहुत से गुण थे पर नियमितता उनमें नहीं थी। जहाँ तक सम्भव होता अनियमित रहना उनका स्वभाव बन गया था। ऐसा भी क्या कि स्वतन्त्र मनुष्य समय का दास बने। इसके अतिरिक्त वह कभी हाथ से नहीं लिखते थे। सदा एक गणेश चाहिए होता था उन्हें।

जब वे जेल में गांधी जी के साथी बने तो विचित्र स्थिति हो गयी। काका जितने अनियमित, गांधी उतने ही नियमित। एक दिन क्या हुआ, सब हिसाब लगा कर देखने के बाद गांधी जी को लगा कि उनके पास आधा-पौन घण्टा बच रहता है। तब पूरी गम्भीरता से उन्होंने काका साहब से पूछा, "मेरे पास पौन घण्टे का समय बचा है। आपको कुछ लिखवाना हो तो मैं तैयार हूँ।"

काका तो लाज के मारे धरती में समाने जैसे हो गये। उस दिन से उन्होंने हाथ से लिखना आरम्भ कर दिया, पर युगों की पड़ी आदत कैसे छूटे! कुछ समय बाद वे फिर पुरानी आदत का शिकार हो गये।

कवि हृदय, प्रकृति प्रेमी, नक्षत्र विद्या का उपासक नियमित कैसे हो सकता है लेकिन साथ ही, वे गांधी तत्व-विज्ञान के उपासक भी थे। उनके आलोचक कहते रहे कि प्रयत्न करें तो दो ध्रुवों के बीच सुवर्ण मध्य प्राप्त हो सकता है।

विद्यापीठ से मुक्ति तक

गांधी-इरविन समझौते के बाद जब युद्ध विराम हुआ तो काका साहब ने विद्यापीठ में सुराज्य विद्यालय आरम्भ किया। उसका उद्देश्य यह था कि स्वराज्य के सैनिक युद्ध विराम को कहीं युद्ध का अन्त न मान बैठें। बल्कि पिछले युद्ध से सीख लेकर नये की तैयारी करें। उन्हें लगता था कि संघर्ष लम्बा चलेगा। हुआ भी यही। गांधी जी के गोलमेज कान्फ्रेंस से बैरंग लौटने से पूर्व ही लार्ड विलिंगडन का दमन-चक्र शुरू हो गया। जैसे ही गांधी जी लौटे, सरकार ने एक सर्वग्रासी अध्यादेश निकालकर राष्ट्रनिर्माण की सभी प्रवृत्तियों को समाप्त कर दिया। विद्यापीठ भी उस आक्रमण से नहीं बच सका। सरकार ने सभी कार्यकर्ताओं को जेल में डाल दिया और विद्यालय को अपने अधिकार में ले लिया। काका साहब इस बार बेळगाव के पास हिंडलगा जेल में रहे। चिन्तन उनका चलता रहता था। उन्हें लगा कि अब उन्हें सत्याग्रह जीवन समाप्त करके कोई भारतव्यापी कार्य-योजना

अपनानी चाहिए। विद्यापीठ में उनका काम सम्पन्न हो चुका है।

यहाँ रहते हुए उन्होंने महाभारत का अध्ययन किया। दो पुस्तकें लिखीं। जीवननो आनन्द के प्रथम खण्ड में प्रकृति के जो शब्द चित्र हैं, वे यहीं लिखे थे उन्होंने। सूर्योदय और सूर्यास्त के समय मेघ कैसे नये-नये रूप धारण करके गन्धर्व-नगरियों के निर्माण करते हैं और नाना प्रकार के रंगों से उसे सजाते हैं इन शब्द-चित्रों में उसका मोहक वर्णन है।

काका साहब के हृदय में सृजनात्मक और रचनात्मक दोनों प्रकार की प्रतिभा का अद्भुत समन्वय हुआ था। कविगुरु रवीन्द्रनाथ और महात्मा गांधी दोनों रच-बस गये थे वहाँ। इन सरस प्रकृति चित्रों के साथ ही यहाँ उन्होंने जिस दूसरी पुस्तक की रचना की वह थी मराठी में, हिण्डलग्याचा प्रसाद। गुजराती में अनूदित होकर यह 'लोक जीवन' के नाम के प्रख्यात हुई। इसके लिखे जाने की एक कहानी है।

इस जेल में उन्हें सूत कातने की सुविधा नहीं दी गयी। उन्होंने सात दिन का उपवास किया। तब अनुमति मिली। उपवास करनेवाले शरारती माने जाते हैं। ऐसे एक और शरारती थे वहाँ, श्री पुण्डलीक कानगडे। काका के पुराने मित्र। दोनों का साथ हो गया। खूब बातें होती थीं नाना विषयों पर। श्री पुण्डलीक ने सोचा सिर्फ़ बातों से क्या होगा? क्यों न कोई पुस्तक लिखी जाए।

तय हुआ कि स्वराज्य आन्दोलन को गाँवों तक पहुँचाना हो तो ग्रामोद्धार की कोई योजना होनी चाहिए। ग्राम वालों के संस्कारों के मूल में पुरानी मान्यताएँ और रीति-रिवाज हैं। इनको सुधार कर या इनके स्थान पर ऐसी नई जीवन्त मान्यताएँ प्रचलित करनी चाहिए जो भविष्य में उनका विश्वास दृढ़ कर सके। इन मान्यताओं के मूल में कैसा तत्त्वज्ञान हो और धर्म का कैसा रूप हो, इसको लेकर काका ने श्री पुण्डलीक को लिखाना शुरू किया। ग्राम जीवन के नवनिर्माण का दस्तावेज़ है यह पुस्तक।

सन् 1932 के अन्त में काका साहब यहाँ से मुक्त हुए। तब तक बाहर बहुत कुछ घट चुका था। गोलमेज़ कान्फ्रेंस से गांधी जी निष्फल लौट आये थे पर गोरी सरकार ने 'बाँटो और शासन करो' के नियम के अनुसार प्रजा को कुछ अधिकार देते हुए 'साम्प्रदायिक निर्णय' की घोषणा की। उसके अनुसार अछूतों को हिन्दुओं से अलग अस्तित्व के रूप में स्वीकार किया गया था। उन्हें स्वतन्त्र अधिकार भी दिये गये।

सवर्ण हिन्दू सरकार की चालबाज़ी तो समझ गये पर युग-युग के संचित संस्कार उन्हें अछूतपन के कलंक को मिटाने की दृष्टि न दे सके। लेकिन गांधी जी ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया और इसके विरुद्ध 20 सितम्बर, 1932 को आमरण अनशन शुरू कर दिया। सरकार और प्रजा दोनों हतप्रभ रह गये।

पद्धति और आपका व्यक्तित्व समझने के लिए ···। मैं जानता हूँ कि हिन्दी का प्रचार स्वराज्य की दृष्टि से आपके लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। फिर भी इस समय आश्रम छोड़कर दूसरा काम लेने की बात मुझे सूझती नहीं।'

बापू जी ने मेरी बात मान ली और गुजराती समाज की सेवा करने, उसको अपनाने का मुझे उत्तम-से-उत्तम मौका दिया। इसके लिए मैं आजन्म उनका ऋणी रहूँगा। किन्तु आगे चलकर जब मैंने गुजरात छोड़ने की बात की और यह बात स्वीकार किये बिना चारा नहीं, ऐसा बापू जी ने देखा तब उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार-कार्य आखिर मुझे पकड़ा ही दिया।"

[समन्वय के साधक, बढ़ते कदम, पृ० 158]

अब जबकि काका साहब ने गुजरात छोड़ने का निश्चय किया तब गांधी जी ने उन्हें दक्षिण भारत जाकर हिन्दी प्रचार का काम व्यवस्थित करने को कहा। दक्षिण के चारों प्रांतों में हिन्दी प्रचार का काम जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन ठीक-ठीक न कर सका तब उन्होंने उसे अपने हाथों में ले लिया था और उसे स्वतन्त्र रूप से चला रहे थे। उसी को व्यवस्थित करने काका साहब दिसम्बर, 1934 में वहाँ गये। गांधी जी ने उनसे कहा था कि हिन्दी प्रचार के लिए पैसे की व्यवस्था भी वहीं से करें ताकि हिन्दी उनके जीवन में प्रवेश कर सके। दो महीने तक काका समूचे दक्षिणाचल में घूमते रहे और समझाते रहे कि भारतीय संस्कृति को व्यक्त करने वाली यह हिन्दी (तब) बारह करोड़ लोगों की मातृभाषा है। इसको राष्ट्र-भाषा स्वीकार करने से भारतीय संस्कृति समर्थ और पुष्ट होगी।

लोगों ने इस भावना का स्वागत किया। चन्दा भी दिया। यह सब व्यवस्था करके काका 1935 ई० में वर्धा लौटे। तब तक वह हिन्दीमय हो चुके थे। उसी समय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन इंदौर में हुआ। गांधी जी ने प्रस्ताव रखा कि दक्षिण के चारों प्रांतों को छोड़कर शेष हिन्दीतर भाषी प्रांतों में हिन्दी का प्रचार संगठित रीति से चलाना चाहिए। श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ने इस प्रस्ताव को बड़े उत्साह से स्वीकार किया। यह काम हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से होना उचित है, यह कहकर उन्होंने काका साहब को भी सम्मेलन का सदस्य बना लिया। बहुत वर्षों बाद काका ने लिखा :

"अब तो यह मेरा जीवन कार्य-सा बन गया। सन् 1934 से लेकर सन् 1940 तक यह काम मैंने पूरी निष्ठा और पूरे उत्साह से किया। इसमें आशातीत सफलता मिली। यही काम यदि बिना किसी विघ्न के चला होता तो देश का वायुमण्डल कुछ और ही होता। आज जो लिख रहा हूँ उसके पीछे मेरा अनुभव, भारतीय इतिहास का मेरा अध्ययन और गांधी जी से मिली जीवन-दृष्टि, इन तीनों का समन्वय है।"

विघ्नों की बात अभी रहने दें। हम काका साहब के साथ कुछ अहिन्दी भाषी

मुक्त गगन और राष्ट्रभाषा

काका साहब के जीवन का एक और अध्याय समाप्त हुआ। अब वह मुक्त गगन में विचर सकते थे। सन् 1934 में जब वह जेल से छूटे तो देश में गांधी जी की हरिजन यात्रा चल रही थी। चिर यात्री के लिए इससे बड़ा प्रलोभन और क्या हो सकता था? उन्होंने गांधीजी के साथ सिंध, पंजाब, उत्तर-प्रदेश, बिहार और बंगाल आदि उत्तर भारत के प्रांतों की यात्रा की। इस यात्रा में गांधीजी ने राष्ट्रीय शिक्षा के संबंध में नये विचार प्रस्तुत किये। वे चाहते थे कि प्रत्येक सेवक गांव में जाकर रहे और वहां के जीवन के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित होकर लोक शिक्षा का काम करे। काका साहब ने इस विचार का प्रचार करने के लिए गुजरात और महाराष्ट्र की यात्राएं की। उन्होंने अपने लिए गुजरात में एक गांव की तलाश की पर वहां तो उन्हें अब रहना नहीं था। वह गांधी जी के पास ही कहीं रहना चाहते थे। इसलिए उन्होंने वर्धा के पास किसी गांव में रहने का निश्चय किया लेकिन जैसे चिरयात्री ने अब पग खोल दिये थे, कोई स्थान विशेष उन्हें बांध न सका। उनके एक जीवनीकार ने ठीक लिखा है, "काका साहब ने भले ही गांवों की रटन लगातार किया हो और भले ही उन्होंने अनेकानेक नवयुवकों को गांवों में जाकर बसने की प्रेरणा दी हो फिर भी उनके अपने लिए गांव की उपासना एक मानस पूजा ही रही है। इसका परिणाम यह हुआ कि जिस बुनियादी शिक्षा को काका साहब ने देश के लिए महात्मा गांधी की श्रेष्ठ देन कहा, उसे प्रतिष्ठित करके वह स्वयं उसकी प्रगति में उतना योगदान नहीं कर सके, जितना उनसे अपेक्षित था। वैसे बुनियादी शिक्षा को वैचारिक प्रारूप देने के लिए उन्होंने समय-समय पर जो लेख लिखे हैं, उन्हें काका साहब की महत्वपूर्ण देन अवश्य माना जाएगा।"

[संस्कृति के परिव्राजक, जीवनी खण्ड, पृ० 160]

एक कवि-हृदय और संस्कृति के परिव्राजक से इससे अधिक की आशा हम क्यों करें? अपवाद का अर्थ ही विरल है।

सन् 1935 में एक और घटना घटी, जिसने काका साहब के सामने अपनी क्षमता प्रदर्शित करने का एक और नया क्षेत्र खोल दिया और वह उनको अन्त तक [illegible] रहा। सन् 1917 में वह हिन्दी से जुड़े थे पर अब तक अनेक कारणों से उस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने का अवसर उन्हें नहीं मिला था। जिस वर्ष हुआ, इसका कारण उन्हीं के शब्दों में यह था :

"मैं अध्यक्ष [illegible] हुआ [illegible] (गांधीजी) [illegible] हिन्दी प्रचार के लिए [illegible] [illegible] [illegible]"

प्रकृति और [illegible] के लिए [illegible] । मैं मानता हूँ कि हिन्दी का प्रचार राष्ट्र की दृष्टि से अत्यन्त [illegible] बहुत महत्त्वपूर्ण है। फिर भी इस [illegible] दूसरा काम लेने की बात मुझे सूझी नहीं।

बापू जी ने यही काम मांगा और गुजराती समाज की सेवा करने, उनको अपना का पूरा समय [illegible] दिया। इसके लिए मैं आजन्म उनका ऋणी रहूँगा। किन्तु बाद [illegible] गुजरात छोड़ने की बात की और यह बात स्वीकार किए बिना चारा नहीं रहा। बापू जी ने देखा तब उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार काम आखिर मुझे सौंप ही दिया।'

[समन्वय के साधक [illegible] पृ० 158]

अब जबकि काका साहब ने गुजरात छोड़ने का निश्चय किया तब गांधी जी ने उन्हें दक्षिण भारत जाकर हिन्दी प्रचार का काम व्यवस्थित करने को कहा। दक्षिण के चारों प्रांतों में हिन्दी प्रचार का काम जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन ठीक-ठीक न कर सका तब उन्होंने उस अपने हाथ में ले लिया था और उस स्वतंत्र रूप से चला रहे थे। उसी को व्यवस्थित करने काका साहब दिसम्बर 1934 में वहाँ गये। गांधी जी ने उनसे कहा था कि हिन्दी प्रचार के लिए पैसे की व्यवस्था भी वहीं से करें ताकि हिन्दी उनके जीवन में प्रवेश कर सके। दो महीने तक काका समूचे दक्षिणांचल में घूमते रहे और समझाते रहे कि भारतीय संस्कृति को व्यक्त करने वाली यह हिन्दी (तब) बारह करोड़ लोगों की मातृभाषा है। इसको राष्ट्र-भाषा स्वीकार करने से भारतीय संस्कृति समर्थ और पुष्ट होगी।

लोगों ने इस भावना का स्वागत किया। चन्दा भी दिया। यह सब व्यवस्था करके काका 1935 ई० में वर्धा लौटे। तब तक वह हिन्दीमय हो चुके थे। उसी समय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन इंदौर में हुआ। गांधी जी ने प्रस्ताव रखा कि दक्षिण के चारों प्रांतों को छोड़कर शेष हिन्दीतर भाषी प्रांतों में हिन्दी का प्रचार संगठित रीति से चलाना चाहिए। श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ने इस प्रस्ताव को बड़े उत्साह से स्वीकार किया। यह काम हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से होना उचित है, यह कहकर उन्होंने काका साहब को भी सम्मेलन का सदस्य बना लिया। बहुत वर्षों बाद काका ने लिखा :

"अब तो यह मेरा जीवन कार्य-सा बन गया। सन् 1934 से लेकर सन् 1940 तक यह काम मैंने पूरी निष्ठा और पूरे उत्साह से किया। इसमें आशातीत सफलता मिली। यही काम यदि बिना किसी विघ्न के चला होता तो देश का वायुमण्डल कुछ और ही होता। आज जो लिख रहा हूँ उसके पीछे मेरा अनुभव, भारतीय इतिहास का मेरा अध्ययन और गांधी जी से मिली जीवन-दृष्टि, इन तीनों का समन्वय है।"

विघ्नों की बात अभी रहने दें। हम काका साहब के साथ कुछ अहिन्दी भाषी

हिन्दी का भी इस अवसर पर गर्व हो सकता है। इसी तरह केरल की भाषा के [illegible] अनुभव [illegible] बोलनेवाले हैं। [illegible] का [illegible] [illegible] किया और बाद का कार्यक्रम शुरू किया। और उस पर एक अंग्रेजी दैनिक में अपने [illegible] पढ़ने को मिला [illegible] थे। इतना बड़ा शीर्षक था, 'हम [illegible] उत्तर का एक और आक्रमण'। लिखा था, 'काका साहब जैसे बड़े नेता हिन्दी प्रचार के लिए दक्षिण में घूमनेवाले हैं। आज केरल आयेंगे।'

यह पढ़कर आया काका को पर उनके साथी उत्साह में पड़ गये। बोले, "क्या करेंगे?"

काका बोले, "लिखा जानती हूँ। पूरा फायदा उठाऊँगा इस बात का।"

सबसे पहले उन्होंने पता लगाया कि वे कौन लोग हैं जो इतना भड़कते हैं। फिर उन्हीं को आमंत्रित किया अपनी सभा में। वे चकित थे फिर भी अपनी बात कहने को आये। काका साहब ने अपना भाषण इस प्रकार शुरू किया :

"भाइयो! आप भूल रहे हैं। मैं उत्तर का नहीं हूँ। दक्षिण का भी नहीं हूँ। मैं तो उत्तर और दक्षिण के बीच मध्य का (जरा पश्चिम की तरफ का) हूँ। उत्तर के लोग यदि दक्षिण पर धावा बोलें तो बीच में हम ही उनको रोकेंगे। आप जानते हैं कि हम महाराष्ट्रियों को सब 'दक्षिणी' कहते हैं। हिन्दी राष्ट्रभाषा भले ही हो किन्तु मेरी मातृभाषा तो महाराष्ट्री है। उत्तर की फौज लेकर मैं धावा क्यों बोलूँ? आपका ही नेतृत्व करके क्या मैं उत्तर के विरुद्ध नहीं लड़ूँगा।"

भाषण का आरम्भ इस प्रकार विनोद से हुआ तो बहुत से बादल छँट गये। काका साहब आगे बोले, "आपको समझना चाहिए कि आज तक चन्द

अनोखी बात आपसे कहना चाहता हूँ। आपके ऊपर कोई आक्रमण करे तो आप संगठित होकर अपने बचाव की तैयारी करते हैं। मैं आपको समझाने आया हूँ कि केवल आत्मरक्षा करना उत्तम लक्षण नहीं है। संकट देखकर, दीवार खींचकर, अन्दर रहकर आत्मरक्षा करने के बदले आक्रमणकारियों के विरुद्ध आप ही आक्रमण क्यों न करें?

"अब आप ही बताइए कि पिछले दस हजार वर्षों में केरल का सबसे बड़ा आदमी कौन था? बेशक वे आद्य शंकराचार्य थे। वे थे केरल के नम्बूदरी ब्राह्मण। केरल के बचाव के लिए यहाँ पर उन्होंने सांस्कृतिक किले नहीं बाँधे। उन्होंने उत्तर के लोगों की भाषा सीख ली और उन पर आक्रमण किया। यह अकेला नम्बूदरी केरल का ब्राह्मण सारे देश में हर जगह जाता था और वाद-विवाद के लिए विद्वानों का आह्वान करता था। उत्तर की भाषा सीखकर उत्तर के शास्त्रों में प्रवीण होकर उन्होंने दिग्विजय किया। सारा देश जीतकर उन्होंने चार छोरों पर आध्यात्मिक मठों की स्थापना की। वे चार मठ आज भी मजबूती से काम कर रहे हैं। पश्चिम में द्वारका के पास पूर्व में जगन्नाथपुरी, उत्तर में हिमालय की गोद में जोशीमठ और दक्षिण में शृंगेरी अथवा कन्याकुमारी। तब से इन स्थानों पर शंकराचार्य के शिष्य धर्म-प्रचार करते आ रहे हैं।

"मैं आपको बताने आया हूँ कि अब हम ब्राह्मणों, मुल्लाओं, अंग्रेज आई.सी.एस. या मिशनरियों का राज्य नहीं चाहते। हम भारतीय प्रजा का राज्य चाहते हैं। वह राज्य प्रजा की भाषा में चलना चाहिए। केरल का राज्य न चलना चाहिए अंग्रेजी में, न चलना चाहिए हिन्दी में। वह तो मलयालम में ही चलना चाहिए।

"और भारत की एकता सँभालनी है न। वह सम्भव होगा राष्ट्रभाषा

द्वारा। बिना एकता के नहीं टिक सकेगी हमारी स्वतंत्रता और न टिक सकता है हमारा सामर्थ्य। दुनिया में हमारे देश की प्रतिष्ठा भी नहीं रह पायेगी। और इस देश की भाषाओं में जिस भाषा को बोलनेवालों की संख्या सबसे अधिक होगी ऐसी स्वदेशी भाषा ही राष्ट्रभाषा बन सकेगी। इसलिए मैं आपसे कहने आया हूँ कि मलयालम की मदद से उत्तर भारत की जनता की भाषा हिन्दी एक दूसरी जरूरी भाषा के तौर पर आप सीख लें और फिर शंकराचार्य की तरह उत्तर भारत पर धावा बोल दें। आपको सिर्फ आत्म-रक्षा करनी है या सर्वसंग्राहक एकता की भाषा लेकर सर्वत्र पहुँचना है।

"उत्तर भारत से कटकर यदि आप दक्षिण भारत के लोग अलग रहेंगे और अंग्रेजों की छत्रछाया में रहना चाहेंगे तो देश के आप टुकड़े करेंगे। फिर एक-एक टुकड़ा भिन्न-भिन्न ज़बरदस्त राष्ट्र के शत्रु के हाथ में चला जाएगा। यह सब टालने के लिए उत्तर की प्रजा की भाषा सीखकर उसका प्रचार करने का काम आप ले लीजिए। जो काम एक समय श्री शंकराचार्य ने किया, वही आज आपको दूसरे ढंग से करना है किन्तु उसके लिए अखिल भारतीय एकता का आग्रह आपको सँभालना होगा।

"उनका सारा विरोध पिघल गया और केरल में हिन्दी प्रचार का काम उन लोगों की ही सहायता से पूरे जोश से शुरू हो गया।"

[समन्वय के साधक, बढ़ते कदम, 159-161]

काका साहब का यह भाषण उनके चिन्तन और उनकी कार्यशैली को ही स्पष्ट नहीं करता बल्कि देश में राष्ट्रभाषा का प्रचार क्यों और कैसे हो, इसका मार्ग भी दिखाता है।

वही सही मार्ग था लेकिन हम भटक गये और उसका परिणाम भुगत रहे हैं।

राष्ट्रभाषा का सही स्वरूप

राष्ट्रभाषा हिन्दी को लेकर जो विवाद खड़ा हो गया था, उसके मनोविज्ञान को समझने और समझाने की काका साहब ने बड़ी ईमानदारी से चेष्टा की। मतभेद की गुंजाइश तो हर कहीं रहती है पर काका साहब ने बिना किसी पूर्वाग्रह के मुक्त मन से विषय का अध्ययन किया और इतिहास में झांकते हुए हमें बताया कि कैसे विदेशी शासकों ने 'बाँटो और शासन करो' की नीति को अपनाते हुए भाषा के प्रश्न को उलझा दिया। इतना और इस तरह कि देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भी सुलझने के स्थान पर वह और भी उलझता जा रहा है। परस्पर के दोषारोपण

के बीच हम आगे बढ़ने तथा और अच्छे मनुष्य बनने के स्थान पर पीछे लौटते प्रतीत होते हैं। जैसे-जैसे वैज्ञानिक उपलब्धियाँ बढ़ रही हैं मनुष्य का अपना मन उसके हाथ से निकलता जा रहा है।

कहाँ है इसकी जड़ ? सन् 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम में कैसे हमारी हार हुई और फिर कैसे सन् 1885 मे राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई, यह हमने देखा ही है। इस विद्रोह को कुचल देने के बाद ब्रिटिश सरकार ने पहले हिन्दुओं की पीठ पर हाथ रखा। उनसे कहा, "यह देश आपका है। मुसलमान बाहर से आये हैं। उन्होंने जबरदस्ती आपको मुसलमान बनाया है। उस स्थिति से मुक्त होने का अवसर हम तुम्हें दे रहे हैं। हमारी भाषा सीखो। तुम्हे ऊँचे-ऊँचे पद मिलेंगे। आप ही राज्य चलायेंगे। बस, आप हमारे प्रति वफादार रहे।"

और तब सचमुच हिन्दुओं ने अंग्रेज़ी ही नहीं सीखी, उनकी सभ्यता को भी प्यार करने लगे थे। उस समय मुसलमान अंग्रेज़ी सभ्यता और भाषा के प्रति अच्छा भाव नहीं रखते थे। अंग्रेजों के आने से पहले वे ही शासक थे। अंग्रेजों ने उनसे देश छीना था। वे उनके दुश्मन थे। उनकी भाषा वे नहीं सीखेंगे, लेकिन जब हिन्दुओं ने अंग्रेज़ी पढ़कर उनका साहित्य पढ़ा तो वे स्वराज्य की बात करने लगे। कांग्रेस की स्थापना हुई। तब अंग्रेजों को यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने मुसलमानों को अपनाने का निर्णय किया। उनसे कहा, "आप ही राजा थे। हिन्दू प्रजा का राज्य चाहते हैं। ऐसा हो गया तो उनका प्रचण्ड बहुमत हो जाएगा। आप कहीं के न रहेंगे। आप कांग्रेस का विरोध कीजिए और अंग्रेज़ी पढ़िए। आपको नौकरियाँ मिलेंगी। ऊँचे-ऊँचे पद मिलेंगे। आप शासन करेंगे। बस, हमारे प्रति वफादार रहिए।"

और मुसलमानों ने कांग्रेस का विरोध किया। उसे सदा हिन्दू जमात कहा।

इधर हिन्दुओं में एक दल था जो पुरानी संस्कृति को अपनाने पर ज़ोर देता था और संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का पक्षपाती था। उर्दू उनके लिए मुसलमानों की भाषा थी, जो विदेशी लिपि में लिखी जाती थी। ऐसे भी लोग थे जो अंग्रेज़ी राज को तो अच्छा मानते थे पर अंग्रेज़ी भाषा और शिक्षण को राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधा मानते थे। इस प्रकार हिन्दू, उर्दू और अंग्रेज़ी दोनों के विरोध में हिन्दी के पक्षधर बनते जा रहे थे।

उनको यह समझानेवाला कोई नहीं था कि पठान और मुगलों के शासन काल में आपने जो राष्ट्रीयता विकसित की थी, वह आज प्राप्त नहीं हो सकती। अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ने के लिए हमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी: ये सब भेद भुलाने होंगे।

इसी समय मंच पर गांधी जी आये। उनका मुख्य उद्देश्य सबको लेकर स्वराज्य की लड़ाई लड़ना था। एक राष्ट्रभाषा की खोज उनके लिए अनिवार्य थी

और यह हिन्दी ही हो सकती थी, ऐसी हिन्दी, जो सबको ग्राह्य हो। उत्तर भारत के हिन्दुओं ने गांधी जी की हिन्दी को पूरा समर्थन दिया पर वे उर्दू का विरोध करते रहे।

दूसरी ओर जवाहरलाल नेहरू जैसे व्यक्ति थे। वे अंग्रेजी राज का विरोध करते थे पर पश्चिमी सभ्यता का नहीं। उन्हें अंग्रेजी साहित्य से प्रेम था। उन्हें राष्ट्रभाषा के रूप में अंग्रेजी चाहिए थी। गांधी जी के प्रभाव में आकर जवाहरलाल जी ने हिन्दी को स्वीकार अवश्य किया पर अन्तर्मन में अंग्रेजी ही शासन करती रही।

मुसलमान भी गांधी जी की हिन्दी स्वीकार न कर सके। एक राष्ट्रवादी मुसलमान नेता ने अपने पक्ष को स्पष्ट करते हुए बेलाग होकर काका साहब से कहा था—

"आप दक्षिण के लोग हमारी बात बराबर समझ नहीं पाते। इसलिए एक बात ध्यानपूर्वक सुन लीजिए। उत्तर भारत में हमारा राज था। आज जिस तरह इस देश पर अंग्रेजों का प्रभाव है, उसी तरह उस समय हिन्दू-मुसलमान सभी परसियन सीखते थे। संस्कारिता के लिए दुनिया-भर में मशहूर यही भाषा थी। हमारी धर्म भाषा अरबी भी एक समर्थ भाषा है। दोनों भाषाएँ इस देश के लोग (हिन्दू-मुसलमान दोनों) निष्ठापूर्वक सीखने लगे थे। हमारा राज्य फारसी में चलता था।

यह सब होते हुए भी प्रजा का महत्व पहचानकर अरबी और फ़ारसी छोड़कर जनता की भाषा 'खड़ी बोली' को हमने राजभाषा स्वीकार किया। आज जैसे भारत में सब देशी भाषाओं में अंग्रेजी के शब्द घुस गये हैं, उसी तरह खड़ी बोली में अरबी-फारसी के शब्द प्रचुर मात्रा में घुसे। उस भाषा का नाम हुआ उर्दू। वह थी पूरी-पूरी प्रजा भाषा। इस देश में रहकर राज करना है तो उर्दू जैसी प्रजा भाषा को ही राजभाषा बनाना चाहिए—ऐसा तय करके हमने उर्दू को राजभाषा करार दिया।

अब लिपि का सवाल लीजिए। भारत में हरेक भाषा की अपनी लिपि है। उसमें राजभाषा के लिए कौन-सी लिपि पसन्द करनी है—यह सवाल हमारे सामने आया। आज जैसे ज्यादातर सरकारी लोग रोमन लिपि को अन्तर्राष्ट्रीय लिपि मानने को तैयार हैं उसी तरह उन दिनों फारसी लिपि तीन भू-खण्डों में, एशिया, दक्षिण यूरोप और अफ्रीका में चलती थी। उसी लिपि को हमने उर्दू के लिए पसन्द किया। उस लिपि को पूरी तरह स्वदेशी बनाने के लिए हमने उसमें थोड़े सुधार भी किये। राज्यकर्ता होते हुए अपना अधिकार और आग्रह छोड़कर राष्ट्रभाषा के लिए हमने प्रजामान्य उर्दू को स्वीकार किया और उसे चलाया। अब उस अखिल भारतीय राजभाषा को

छोड़कर हिन्दुओं की खातिर हिन्दी स्वीकार करें, जो आप कहते हैं वह कहाँ तक योग्य है ? यह आप ही सोचिए। जिसे आप उर्दू लिपि कहते हैं वह फारसी लिपि लिखने में आसान है। उस लिपि को छोड़कर रोमन लिपि लेने को आप कहें तो हम समझ सकते हैं किन्तु नागरी लिपि हमारे माथे क्यों लाद रहे हैं ?" [समन्वय के साधक, पृ० 166-67]

निश्चय ही ये शब्द हू-ब-हू उन राष्ट्रीय मुस्लिम नेता के नहीं हैं पर भाषा उन्हीं की है अर्थात् जो अर्थ इन शब्दों के हो सकते हैं वे मुस्लिम मित्रों की भावना के अनुरूप हैं। काका साहब समझ गये थे कि कितने भी सुधार क्यों न किए जाएँ, अरबी-फारसी शब्दों के बहिष्कार की बात भी छोड़ दें, फिर भी मुसलमान पूरे उत्साह से हिन्दी प्रचार में सहयोग नहीं देंगे। कुछ राष्ट्रीय मुसलमान साथ दें भी, तो भी राष्ट्रीय सवालों में पूरी मुसलमान क़ौम का सहयोग नहीं मिलेगा।

ऐसी स्थिति में पं सुन्दरलाल[1] ने गाँधी जी से कहा, "हिन्दी की व्याख्या आप चाहे जितनी व्यापक करें, उसमें सारे-के-सारे उर्दू शब्दों को स्वीकार करें तो भी जब तक उसका नाम हिन्दी है, तब तक आपकी राष्ट्रभाषा की प्रवृत्ति हिन्दू राज्य की प्रवृत्ति मानी जाएगी। इसलिए हिन्दी और उर्दू दोनों नाम छोड़कर पूर्ण राष्ट्रीय व्याख्या की राष्ट्रभाषा को हिन्दुस्तानी नाम दीजिए और उसके लिए नागरी तथा उर्दू दोनों लिपि मान्य रखिए। तभी मुसलमानों की शंका दूर होगी।"

सुन्दरलाल जी की बात गाँधी जी को जँची और उन्होंने अपने हिन्दी प्रचार के रूप में कुछ परिवर्तन करने का विचार किया परन्तु काका साहब का अनुभव कुछ और ही था। उन्होंने गाँधी जी से कहा, "बहुत से मुसलमान उर्दू के लिए 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसलिए सामान्य जनता हिन्दुस्तानी का अर्थ उर्दू ही करती है। नागरी के साथ उर्दू को भी राष्ट्रीय लिपि मानेंगे तो सारे देश में उसका प्रचार नहीं हो सकेगा। संस्कृत के कारण अनेक बंगाली और मद्रासी लोग भी नागरी लिपि जानते हैं। राष्ट्रीय एकता की खातिर लोग मुश्किल से नागरी लिपि सीखने को तैयार होंगे किन्तु दो लिपियों का बोझ स्वीकार करने जितनी राष्ट्रीयता लोगों में विकसित नहीं हुई है। नागरी लिपि को ही सर्वमान्य करने के लिए उसमें कुछ जरूरी सुधार करने की कोशिश कर रहा हूँ। उसमें मेरी शक्ति का अन्त आ गया है। उर्दू लिपि का प्रचार करना आसान नहीं। वह लिपि अधूरी है। कई बार उसमें लिखने में गलतियाँ हो जाती हैं। उच्चारण के साथ लिपि का पूरा मेल नहीं, इसलिए वह सार्वत्रिक हो नहीं सकती।"

कुछ मुसलमान साफ़-साफ़ कहते हैं, "हिन्दुस्तानी की आड़ में गाँधीजी हिन्दी चलाना चाहते हैं। इसीलिए हमें उसमें शामिल नहीं होना चाहिए।"

---

1. सुप्रसिद्ध स्वतन्त्रता सेनानी और हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक तथा 'भारत में अंग्रेजी राज' पुस्तक के लेखक।

उत्तर भारत में लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तानी की आड़ में उर्दू ही चलेगी।

सब कुछ सुनने के बाद भी गांधी जी अपने मन पर अडिग रहे। काका साहब को वही करना पड़ा जो गांधी जी चाहते थे। वे प्रतिबद्ध थे वह सब करने को जो गांधी जी चाहते थे। उनके आदेश पर ही तो वह हिन्दी से जुड़े थे।

सन् 1935 में इन्दौर अधिवेशन में सारे भारत में हिन्दी का प्रचार करने के लिए 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की स्थापना की गयी थी। इसको चलाने का दायित्व काका साहब को सौंपा गया था। उसका कार्यालय भी वर्धा में रखा गया। काका साहब ने आठ प्रान्तों में राष्ट्रभाषा प्रचार का काम किया और हर प्रान्त में एक-एक संस्था भी स्थापित की। तब काका साहब और सम्मेलन के प्राण श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन में गहरे मैत्री सम्बन्ध बन गये थे लेकिन जब गांधी जी द्वारा की गयी राष्ट्रभाषा की व्याख्या और दो लिपियों के प्रयोग को लेकर सम्मेलन और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति में मतभेद बढ़ता गया तब काका साहब ने टण्डन जी से कहा, "इतना मौलिक और बुनियादी विरोध हो तो गांधी जी की प्रवृत्ति सम्मेलन के हाथ में नहीं रखी जा सकती। उसको स्वतन्त्र करना

सम्मेलन से स्वतन्त्र करने की नीति मैं स्वीकार करूँ तब तक वे वातावरण को शुद्ध न करें। परिणाम यह हुआ कि देश में इस नीति का प्रबल विरोध हुआ और टण्डन जी को अवसर मिल गया। उन्होंने गांधी जी से कहा "आठ प्रान्तों का संगठन आपने किया है और मैं मानता हूँ यह काका साहब की मेहनत का परिणाम है। किन्तु यह सब आपने सम्मेलन के नाम से किया है और हिन्दी का काम है, यह कहकर किया है। इसलिए यह प्रवृत्ति आप हम सौंप दें।"

गांधी जी ने उत्तर दिया "यह काम आपको सौंपकर हम हिन्दुस्तानी के नाम से नये सिरे से नयी प्रवृत्ति चलायें तो आपको कोई आपत्ति तो नहीं होगी?"

टण्डन जी यह सुनकर बड़े प्रसन्न हुए, बोले, "आप जरूर नयी संस्था खड़ी करें, उसको मैं आशीर्वाद दूँगा। हमारी प्रवृत्ति हमें वापस दे दीजिए। इतना ही काफी है।"

गांधी जी ने वैसा ही किया। मई, 1942 में उनकी अध्यक्षता में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना की गयी लेकिन देश तो इस समय ज्वालामुखी पर बैठा था। वह सभा अपना काम शुरू कर पाती अगस्त 1942 में 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू हो गया। सब कुछ अस्त-व्यस्त हो गया।

भारत छोड़ो आन्दोलन

8 अगस्त सन् 1942 के दिन बम्बई में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन की घोषणा हुई और फिर अगले दिन गांधी जी आदि सभी नेताओं को जेलों में बन्द कर दिया गया। सारे देश में भयंकर दमन-चक्र शुरू हो गया। काका साहब लगभग बीस दिनों तक सम्बन्धित प्रचार-कार्य में लगे रहे। फिर सरकार ने उन्हें भी सींखचों के पीछे बन्द कर दिया। इस बार सरकार ने इस बात की पूरी चेष्टा की कि ये लोग अपने प्रान्तवासियों से सम्पर्क न साध सकें। उसने सर्वश्री काका कालेलकर, विनोबा भावे, किशोरीलाल मशरूवाला आदि नेताओं को तमिलनाडु के वेल्लोर नगर की जेल में रखा। लगभग तीन वर्ष वे बन्द रहे। सदा की तरह अध्ययन और सृजन का उनका कार्यक्रम यहाँ भी चलता रहा। उन्होंने गीता, ज्ञानेश्वरी और खगोल विद्या का अध्ययन किया। दो शब्दकोष तैयार किये। एक शब्दकोष 'गीता रत्नप्रभा' में उन्होंने उन शब्दों का संकलन किया जो गीता के तत्त्वज्ञान की अर्थ-घन दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। दूसरा कोष गांधी जी द्वारा तैयार किये गये 'गीता पदार्थ कोष' के पदों में निहित या अंतर्भूत शब्दों से सम्बद्ध था। इस बार उन्होंने श्री किशोरीलाल मशरूवाला के सहयोग से एक ऐसे उपन्यास का

उत्तर भारत के लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तानी की आड़ में उर्दू ही चलेगी।

सब कुछ सुनने के बाद भी गांधी जी अपने मत पर अडिग रहे। काका साहब को वही करना पड़ा जो गांधी जी चाहते थे। वे प्रतिबद्ध थे वह सब करने को जो गांधी जी चाहते थे। उनके आदेश पर ही तो वह हिन्दी से जुड़े थे।

सन् 1935 में इन्दौर अधिवेशन में सारे भारत में हिन्दी का प्रचार करने के लिए 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की स्थापना की गयी थी। इसको चलाने का दायित्व काका साहब को सौंपा गया था। उसका कार्यालय भी वर्धा में रखा गया। काका साहब ने आठ प्रान्तों में राष्ट्रभाषा प्रचार का काम किया और हर प्रान्त में एक एक संस्था भी स्थापित की। तब काका साहब और सम्मेलन के प्राण श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन में गहरे मैत्री सम्बन्ध बन गये थे लेकिन जब गांधी जी द्वारा की गयी राष्ट्रभाषा की व्याख्या और दो लिपियों के प्रयोग को लेकर सम्मेलन और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति में मतभेद बढ़ता गया तब काका साहब ने टण्डन जी से कहा, "इतना मौलिक और बुनियादी विरोध हो तो गांधी जी की प्रवृत्ति सम्मेलन के हाथ में नहीं रखी जा सकती। उसको स्वतन्त्र करना होगा।"

टण्डन जी ने कहा, "सारी प्रवृत्ति आप ही ने संगठित की है। गांधी जी चाहें और पूरी प्रवृत्ति को सम्मेलन से अलग करें तो उसे मैं सहन करूंगा किन्तु गांधी जी की नयी हिन्दुस्तानी नीति को हम कभी स्वीकार नहीं कर सकेंगे।"

टण्डन जी ने कैसे भी हो, भले ही लाचारी से हो, अपनी सम्मति दे दी। काका साहब गांधी जी के पास पहुँचे और उन्होंने कहा, "बापू जी, इस समय आप हिन्दुस्तानी प्रचार के बारे में मौन रहें तो अपनी आठ प्रान्तों की प्रवृत्ति हम सम्मेलन से अलग कर लेंगे। टण्डन जी सहमत हो गये हैं। वे सम्मेलन को समझायेंगे। स्वतन्त्र होने के बाद इतनी बड़ी संख्या द्वारा हम हिन्दुस्तानी का प्रचार क्रमानुसार चलायेंगे। सारी संस्था यदि सम्मेलन को सौंप देंगे तो फिर सारे भारत में हिन्दुस्तानी के नाम से दो लिपियों का प्रचार अशक्य होगा। मैं तो आपकी बात सब लोगों को समझाऊँगा किन्तु देश में यह बात जड़ नहीं पकड़ सकेगी। भारत की तमाम प्रादेशिक भाषाओं के लिए नागरी लिपि स्वीकार की जाए इस तरह का प्रयत्न मैं कर रहा हूँ। कर्नाटक में यह काम आरम्भ हो चुका है। बंगाल में सख्त विरोध है, वहाँ हम नागरी लिपि में बंगाली साहित्य प्रकाशित करेंगे। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर से मैंने इजाजत भी ले रखी है। इस हालत में अखिल भारतीय एक लिपि प्रचार की जगह राष्ट्रभाषा के लिए दो लिपियों का प्रचार शक्य हो, ऐसा मुझे नहीं लगता।" [समन्वय के साधक, पृ० 168]

गांधी जी अब भी नहीं माने। उन्होंने काका साहब का यह अनुरोध भी अनसुना कर दिया कि जब तक आठ प्रान्तों में राष्ट्रभाषा के प्रचार का काम

सम्मेलन से स्वतन्त्र करने की नीति मैं स्वीकार करूँ तब तक वे वातावरण को क्षुब्ध न करें। परिणाम यह हुआ कि देश में इस नीति का प्रबल विरोध हुआ और टण्डन जी को अवसर मिल गया। उन्होंने गांधी जी से कहा, 'आठ प्रान्तों का संगठन आपने किया है और मैं मानता हूँ यह काका साहब की मेहनत का परिणाम है। किन्तु यह सब आपने सम्मेलन के नाम से किया है और हिन्दी का काम है, यह कहकर किया है। इसलिए यह प्रवृत्ति आप हमें सौंप दें।"

गांधी जी ने उत्तर दिया, "यह काम आपको सौंपकर हम हिन्दुस्तानी के नाम से नये सिरे से नयी प्रवृत्ति चलावें तो आपको कोई आपत्ति तो नहीं होगी?"

टण्डन जी यह सुनकर बड़े प्रसन्न हुए, बोले, "आप ज़रूर नयी संस्था खड़ी करें, उसको मैं आशीर्वाद दूँगा। हमारी प्रवृत्ति हमें वापस दे दीजिए। इतना ही काफ़ी है।"

गांधी जी ने वैसा ही किया। मई, 1942 में उनकी अध्यक्षता में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना की गयी लेकिन देश तो इस समय ज्वालामुखी पर बैठा था। वह सभा अपना काम शुरू कर पाती अगस्त 1942 में 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू हो गया। सब कुछ अस्त-व्यस्त हो गया।

भारत छोड़ो आन्दोलन

8 अगस्त सन् 1942 के दिन बम्बई में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन की घोषणा हुई और फिर अगले दिन गांधी जी आदि सभी नेताओं को जेलों में बन्द कर दिया गया। सारे देश में भयंकर दमन-चक्र शुरू हो गया। काका साहब लगभग बीस दिनों तक सम्बन्धित प्रचार-कार्य में लगे रहे। फिर सरकार ने उन्हें भी सींखचों के पीछे बन्द कर दिया। इस बार सरकार ने इस बात की पूरी चेष्टा की कि ये लोग अपने प्रान्तवासियों से सम्पर्क न साध सकें। उसने सर्वश्री काका कालेलकर, विनोबा भावे, किशोरीलाल मशरूवाला आदि नेताओं को तमिलनाडु के वेल्लोर नगर की जेल में रखा। लगभग तीन वर्ष वे बन्द रहे। सदा की तरह अध्ययन और सृजन का उनका कार्यक्रम यहाँ भी चलता रहा। उन्होंने गीता, ज्ञानेश्वरी और खगोल विद्या का अध्ययन किया। दो शब्दकोष तैयार किये। एक शब्दकोष 'गीता रत्नप्रभा' में उन्होंने उन शब्दों का संकलन किया जो गीता के तत्त्वज्ञान की अर्थ-छटा दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। दूसरा कोष गांधी जी द्वारा तैयार किये गये 'गीता पदार्थ कोष' के पदों के विभिन्न या सन्दर्भ शब्दों से सम्बद्ध था। इस बार उन्होंने श्री किशोरीलाल मशरूवाला के सहयोग से एक छोटे उपन्यास का

उत्तर भारत के लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तानी की आड़ में उर्दू ही चलेगी।

सब कुछ सुनने के बाद भी गांधी जी अपने मत पर अडिग रहे। काका साह
का यही करना रहा जो गांधी जी चाहते थे। वे प्रतिबद्ध थे यह सब करने को
गांधी जी चाहते थे। उनके आदेश पर ही तो वह हिन्दी में गये थे।

सन् 1935 के इन्दौर अधिवेशन में सारे भारत में हिन्दी का प्रचार करने
लिए 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की स्थापना की गयी थी। इसको चलाने क
दायित्व काका साहब को सौंपा गया था। उसका कार्यालय भी वर्धा में रख
गया। काका साहब ने आठ प्रान्तों में राष्ट्रभाषा प्रचार का काम किया और ह
प्रान्त में एक एक संस्था भी स्थापित की। तब काका साहब और सम्मेलन के
प्राण श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन से गहरे मैत्री सम्बन्ध बन गये थे लेकिन जब गांधी
जी द्वारा की गयी राष्ट्रभाषा की व्याख्या और दो लिपियों के प्रयोग को लेकर
सम्मेलन और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति में मतभेद बढ़ता गया तब काका साहब
ने टण्डन जी से कहा, "इतना मौलिक और बुनियादी विरोध हो तो गांधी जी
की प्रवृत्ति सम्मेलन के हाथ में नहीं रखी जा सकती। उसको स्वतन्त्र करना
होगा।"

टण्डन जी ने कहा, "सारी प्रवृत्ति आप ही ने सगठित की है। गांधी जी
चाहें और पूरी प्रवृत्ति को सम्मेलन से अलग करें तो उसे मैं सहन करूंगा किन्तु
गांधी जी की नयी हिन्दुस्तानी नीति को हम कभी स्वीकार नहीं कर सकेंगे।"

टण्डन जी ने कैसे भी हो, भले ही लाचारी से हो, अपनी सम्मति दे दी।
काका साहब गांधी जी के पास पहुंचे और उन्होंने कहा, "बापू जी, इस समय
आप हिन्दुस्तानी प्रचार के बारे में मौन रहें तो अपनी आठ प्रान्तों की प्रवृत्ति हम
सम्मेलन से अलग कर लेंगे। टण्डन जी सहमत हो गये हैं। वे सम्मेलन को।
समझायेंगे। स्वतन्त्र होने के बाद इतनी बड़ी संख्या द्वारा हम हिन्दुस्तानी का
प्रचार क्रमानुसार चलायेंगे। सारी संस्था यदि सम्मेलन को सौंप देंगे तो [
भारत में हिन्दुस्तानी के नाम से दो लिपियों का प्रचार
आपकी बात सब लोगों को समझाऊंगा किन्तु देश में य
सकेगी। भारत की तमाम प्रादेशिक भाषाओं के लिए
जाए इस तरह का प्रयत्न मैं कर रहा हूं। कर्नाटक में य
है। बंगाल में मरुत विरोध है, वहाँ हम नागरी लिपि
करेंगे। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर से मैंने इजाजत भी
अखिल भारतीय एक लिपि प्रचार की जगह रा
प्रचार शक्य हो, ऐसा मुझे नहीं लगता।" [

गांधी जी अब भी नहीं माने। उन्होंने
अनसुना कर दिया कि जब तक आठ प्रान्तों

डॉक्टर ने आकर दो सौ सी.सी. के ग्लूकोज सेलाइन का इंजेक्शन दिया।

शाम की प्रार्थना उनके कमरे में ही की गयी। इतने लोग थे कि बहुतों को बाहर बैठना पड़ा। प्रार्थना के बाद सबने मिलकर भजन गाया, "अब की टेक हमारी, लाज राखो गिरधारी।" महादेव भाई बोले "भगवान जरूर लाज राखेंगे।" (भगवान जरूर लाज रखेगा) और दूसरे दिन सवेरे *काका साहब का* चेहरा बदला हुआ था। एक नयी शक्ति आ गयी थी।

उन्हें कई दिन लगे पूर्ण स्वस्थ होने में पर उस बीच भी उन्होंने खलील जिब्रान की पुस्तक 'सैंड एण्ड फोम' का मराठी अनुवाद बोलकर लिखवाया। बाद में वह 'मृगजलातील मोती' के नाम से प्रकाशित हुआ।

इस प्रकार की बहुत चर्चा हुई। विशेषकर इसलिए कि गांधी विचार के विरोधी मराठी समाचार पत्रों ने स्पष्ट शब्दों में गांधी जी पर आरोप लगाया कि उन्होंने अपने महाराष्ट्रीय साथियों को नीरा में विष पिलाकर मार डाला। वे उन दिनों गांधी जी को बदनाम करने का कोई अवसर नहीं चूकते थे। तब काका साहब सरीखे उनके भक्तों की मनोदशा क्या हो सकती है, इसकी कल्पना की जा सकती है।

सन् 1936 में महात्मा गांधी की अध्यक्षता में गुजराती साहित्य सम्मेलन का बारहवाँ अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ था। काका साहब इसके अन्तर्गत होनेवाली कला परिषद् के अध्यक्ष थे। इसी वर्ष उनके गुजराती लेखों का विषयवार प्रकाशन शुरू हुआ। 'जीवन विकास' ग्रन्थ इसी वर्ष छपा। 'गांधी सेवा संघ' की स्थापना भी इसी वर्ष हुई। प्रतिवर्ष उसके अधिवेशन होते थे। इन अधिवेशनों में सिद्धांतों और विचारों को लेकर गहन चर्चा होती। इसका उद्देश्य आत्म-मन्थन था। इस संघ का एक उद्देश्य गांधी विचार से जुड़े *कार्यकर्ताओं की आवश्यकता*-नुसार आर्थिक सहायता करना भी था। संघ की प्रवृत्तियों को बल देने के लिए अगस्त सन् 1938 से 'सर्वोदय' नाम से एक हिन्दी मासिक पत्र का प्रकाशन शुरू किया गया। इसके सम्पादक बने काका साहब और दादा धर्माधिकारी हुए सह सम्पादक। काका वहाँ थे इसीलिए उसमें मात्र गांधी विचारधारा का शुष्क विवेचन ही नहीं रहता था बल्कि आकाश दर्शन और रोचक यात्रा विवरण भी इसमें प्रकाशित होते थे। स्वयं इन विषयों पर अनेक लेख लिखकर काका साहब ने हिन्दी की अनन्य सेवा की। अनेक कारणों से दस वर्ष बाद सन् 1948 में इस पत्रिका को बन्द कर देना पड़ा।

काका साहब ने जिन हिन्दी पत्रिकाओं का सम्पादन किया उनमें मात्र दो वर्ष जीनेवाली 'सबकी बोली' (1939-41) अनेक दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में काका कितने कुशल थे यह इस अल्पजीवी पत्रिका के पन्नों से स्पष्ट हो जाता है। यहाँ यह बता देना भी आवश्यक है कि गांधी जी

गुजराती में अनुवाद किया, जिसका कथानक हिमालय क्षेत्र के कुछ रोगियों के जीवन से था। इस आत्मकथात्मक उपन्यास का गुजराती में नाम है 'मानवी खंडि-यरो'[1]। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के लघु उपन्यास 'मालंच' का मराठी में अनुवाद भी उन्होंने यहीं किया था। 'गीतांजलि' और 'नैवेद्य' की कई कविताओं को मराठी में [illegible] भी यहीं पर लिखवायीं। यहीं पर उन्होंने नागरी लिपि में सुधार करने की योजना पर विचार किया और विनोबा भावे तथा किशोरीलाल भाई के साथ सुधरी लिपि का एक प्रारूप तैयार किया। सन् 1935 में होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन के अन्तर्गत नागरी लिपि सुधार परिषद का जो समारोह हुआ था, उसके वह अध्यक्ष थे।

वे सारा समय येरवडा जेल में नहीं रहे। कुछ समय वे मध्यप्रदेश की सिवनी सेन्ट्रल जेल में भी रहे। यहीं से सन् 1945 में वह मुक्त हुए। इससे पहले कि हम उनके हिन्दुस्तानी भाषा के प्रचार के कार्य का विवेचन करें कुछ उन दूसरी महत्व-पूर्ण घटनाओं पर दृष्टि डाल लेना उचित होगा, जो सन् 1935 और सन् 1945 के बीच घटी थीं।

इनमें सबसे मार्मिक घटना सन् 1938 में घटी। गांधी जी तब सेवाग्राम में रहते थे। वहां खजूर के पेड़ के मीठे रस नीरा से गुड़ बनाने का प्रयोग चल रहा था। बंगाल में नीरा से गुड़ बनाने का रिवाज बहुत पहले से प्रचलित था। गुजरात में ताजा नीरा पीना पौष्टिक माना जाता था पर अधिकतर पारसी ही उसे पीते थे। हां, उससे मादक पेय तैयार करना सभी जानते थे।

गांधी जी ने ग्रामोद्योग के रूप में नीरा से गुड़ बनाना शुरू किया। साथ ही ताजा नीरा पिलाने की योजना भी बनाई। सभी आश्रमवासी नीरा के मौसम में सुबह-सुबह पाव-भर नीरा पीते थे। इसी प्रक्रिया में 31 जुलाई सन् 1938 को काका साहब ने अपने पांच साथियों के साथ नीरा पी। तब वे वर्धा में थे। उन दिनों वहां चारों ओर हैजा फैला हुआ था। काका साहब और उनके साथी भी उसकी चपेट में आ गये। बापूजी को खबर मिली। दूसरे दिन जब स्थिति गम्भीर होती जान पड़ी तो उन्होंने डॉ. सुशीला नैयर और श्री अमृतलाल नानावटी को उनके पास भेजा। तब तक काका के सहायक श्री पाडुरंग भुरके की मृत्यु हो चुकी थी। दो दिन बाद दूसरे सहायक श्री गजानन्द दाबके भी चल बसे। महिला आश्रम के आचार्य नाना आठवले भी अन्ततः उसी रास्ते पर चले गये।

काका साहब होमियोपैथी डॉक्टर के इलाज में थे परन्तु चार अगस्त तक उनकी हालत में जरा भी सुधार नहीं हुआ। एक समय तो उनकी आँखें तक पथरा गईं। हाथ-पैर ठण्डे पड़ने लगे। तुरन्त इलाज बदला गया। एलोपैथी

---

1. पेरी बरजेस के 'हू वाक अलोन' का अनुवाद। सन् 1946 में प्रकाशित।

डॉक्टर ने आकर दो सौ शीशी के ग्लूकोज़ सेलाइन का इंजेक्शन दिया।

शाम की प्रार्थना उनके कमरे में ही की गयी। इतने लोग थे कि बहुतों को बाहर बैठना पड़ा। प्रार्थना के बाद सबने मिलकर भजन गाया, "अब की टेक हमारी, लाज राखो गिरधारी।" महादेव भाई बोले, "भगवान जरूर लाज राखेंगे।" (भगवान जरूर लाज रखेगा) और दूसरे दिन सवेरे काका साहब का चेहरा बदला हुआ था। एक नयी शक्ति आ गयी थी।

उन्हें कई दिन लगे पूर्ण स्वस्थ होने में पर उस बीच भी उन्होंने ग्लसीन डिखान की पुस्तक 'मेंड एण्ड फोम' का मराठी अनुवाद बोलकर लिखवाया। बाद में वह 'मृगजलातील मोती' के नाम से प्रकाशित हुआ।

इस प्रकार की बहुत चर्चा हुई। विशेषकर इसलिए कि गांधी विचार के विरोधी मराठी समाचार पत्रों ने स्पष्ट शब्दों में गांधी जी पर आरोप लगाया कि उन्होंने अपने महाराष्ट्रीय साथियों को मौत के मुँह में धकेल दिया/विष पिलाकर मार डाला। वे उन दिनों गांधी जी को बदनाम करने का कोई अवसर नहीं चूकते थे। तब काका साहब सरीखे उनके भक्तों की मनोदशा क्या हो सकती है, इसकी कल्पना की जा सकती है।

सन् 1936 में महात्मा गांधी की अध्यक्षता में गुजराती साहित्य सम्मेलन का बारहवाँ अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ था। काका साहब इसके अन्तर्गत होनेवाली कला परिषद् के अध्यक्ष थे। इसी वर्ष उनके गुजराती लेखों का विषयवार प्रकाशन शुरू हुआ। 'जीवन विकास' ग्रन्थ इसी वर्ष छपा। 'गांधी सेवा संघ' की स्थापना भी इसी वर्ष हुई। प्रतिवर्ष उसके अधिवेशन होते थे। इन अधिवेशनों में सिद्धान्तों और विचारों को लेकर गहन चर्चा होती। इसका उद्देश्य आत्म-मन्थन था। इस संघ का एक उद्देश्य गांधी विचार से जुड़े कार्यकर्ताओं की आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता करना भी था। संघ की प्रवृत्तियों को बल देने के लिए अगस्त सन् 1938 से 'सर्वोदय' नाम से एक हिन्दी मासिक पत्र का प्रकाशन शुरू किया गया। इसके सम्पादक बने काका साहब और दादा धर्माधिकारी हुए सह सम्पादक। काका वहाँ थे इसीलिए उसमें मात्र गांधी विचारधारा का शुष्क विवेचन ही नहीं रहता था बल्कि आकाश दर्शन और रोचक यात्रा विवरण भी इसमें प्रकाशित होते थे। स्वयं इन विषयों पर अनेक लेख लिखकर काका साहब ने हिन्दी की अनन्य सेवा की। अनेक कारणों से दस वर्ष बाद सन् 1948 में इस पत्रिका को बन्द कर देना पड़ा।

काका साहब ने जिन हिन्दी पत्रिकाओं का सम्पादन किया उनमें मात्र दो वर्ष चलनेवाली 'सबकी बोली' (1939–41) अनेक दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में काका जितने कुशल थे वह इस [illegible] के पन्नों से स्पष्ट हो जाता है। यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि

के आदेश पर उन्होने हिन्दुस्तानी के प्रचार का बीड़ा उठाया तो था लेकिन लिखते वे संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ही रहे।

सन् 1937 के गांधी जी ने शिक्षा के क्षेत्र मे नयी योजना देश के सामने प्रस्तुत की। यह वर्धा शिक्षा योजना। बाद मे 'नयी तालीम' के नाम से विख्यात हुई। इस पर विचार करने के लिए देश भर के शिक्षा शास्त्रियों की एक 'अखिल भारत परिषद्' बुलायी गयी। सभी ने इसका स्वागत किया। उस समय की काग्रेस सरकारो ने उसे अमल मे लाने का प्रयत्न भी किया। काग्रेस ने सन् 1938 में अपने हरिपुरा अधिवेशन मे इस पर अपनी मोहर लगा दी। उसी अधिवेशन मे 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' की स्थापना हुई, जिसका मुख्यालय सेवाग्राम मे रहा। काका साहब ने तब बड़े उत्साह से पाठ्यक्रम आदि तैयार करने मे योगदान दिया। सेवाग्राम और वर्धा मे जो प्रशिक्षण शिविर लगाये जाते, उनमे वह व्याख्यान देते थे। यही नही, राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिए वे जहां-जहां जाते वहां-वहां वह 'वर्धा शिक्षा योजना' चलानेवाली सस्थाओ और स्कूलो में भी जाते थे और इस योजना के महत्त्व पर अपनी मौलिक दृष्टि से प्रकाश डालते थे। गांधी जी की हर प्रवृत्ति उनकी प्रवृत्ति बन जाती थी।

हिन्दीतर भाषी आठ प्रान्तों मे उन्होने कैसे हिन्दी प्रचार की अलख जगायी, फिर कैसे सम्मेलन से अलग हुए, इसकी सक्षिप्त चर्चा पीछे आ चुकी है। यहाँ एक और दृष्टि से उसका जायजा लेना अनुचित न होगा। दक्षिण के चार प्रातों मे हिन्दी प्रचार का काम दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा करती थी। काका साहब उसकी कार्यसमिति मे थे और समय-समय पर उन प्रान्तो की यात्रा करके प्रचार-कार्य मे सहायक होते थे।

लेकिन उत्तर के आठ प्रान्तो का भार अकेले उन पर था। वहाँ का सफल संयोजन उन्होने कैसे किया यह देखनेवाली बात है। सिन्धु के सभी प्रमुख नगरो मे जाकर उन्होने भाषण दिये और अपने मित्र डॉ. नारायण मलकानी की अध्यक्षता मे एक प्रान्तीय समिति गठित की। उनके साथ उनके दो सिन्धी विद्यार्थी थे। उन्हे मंत्री बनाया लेकिन मोहनजोदरो देखना वे नही भूले। सस्कृति का परिव्राजक ऐसी भूल कैसे कर सकता था। गुजरात की यात्रा उन्होने कई बार की। इतने भक्त थे उनके वहाँ कि हिन्दी प्रचार मे वह सर्वोपरि हो रहा। हिन्दी इस तरह राष्ट्रीय मुक्ति सग्राम से जुडी थी कि सिन्ध, गुजरात, बम्बई, महाराष्ट्र और नाग विदर्भ मे उन्हे वैतनिक प्रचारक रखने की जरूरत ही नही पड़ी। स्थानीय शिक्षक ही शनि और रवि को स्कूल-कालेजो मे हिन्दी के वर्ग चलाते थे। इससे पहले भी यहाँ काम होता था। यहाँ के परीक्षार्थी दक्षिण भारत प्रचार सभा की परीक्षाओं मे बैठते थे। अब वे वर्धा समिति मे जुड़ गये।

सम्पूर्ण महाराष्ट्र के लिए जो समिति गठित हुई, उसके अध्यक्ष थी शकर देव

बने और मंत्री बने नाना धर्माधिकारी। संयोजक हुए श्री गो० प० नेने। ये लोग राष्ट्रीय कांग्रेस से भी जुड़े थे। इसलिए हिन्दी प्रचार का काम स्वाधीनता संग्राम का एक अंग बन गया था और संगठित रूप से चल रहा था। विदर्भ नाम शुरू में महाराष्ट्र में रहा, बाद में अलग हो गया। उससे जुड़े सर्वश्री कृष्णदास जाजू, दादा धर्माधिकारी, कन्नमवार (जो बाद में बम्बई के मुख्यमंत्री हुए) और काका साहब।

उत्कल, बंगाल और असम में भी पहले से काम चल रहा था। बाबा राघवदास इसका संचालन करते थे। उन्होंने उत्कल में श्री अनसूया प्रसाद पाठक को संचालक नियुक्त किया था। अपनी मृत्युपर्यन्त वे ही इस पद पर बने रहे। बंगाल में अधिकतर मारवाड़ी बन्धु इसमें योग देते। बंगाली मित्रों ने बहुत अधिक रुचि नहीं ली। फिर भी, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और अध्यापक प्रियरंजन दास जैसे महानुभाव इस कार्य में योगदान कर रहे थे। असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष तो वहाँ के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री गोपीनाथ बरदलै बने। मणिपुर असम के अन्तर्गत ही रहा।

यह मानना पड़ेगा कि पश्चिम भारत की तरह यहाँ काम बहुत सहज भाव से नहीं हुआ। वैतनिक प्रचारक रखने पड़े। फिर भी इस सबसे काका साहब की संयोजन क्षमता और लोगों को जोड़नेवाली सदाशय बुद्धि का अच्छा परिचय मिलता है।

बम्बई की कांग्रेस सरकार ने काका साहब की अध्यक्षता में हिन्दुस्तानी बोर्ड की स्थापना की। इसके द्वारा बम्बई के सभी स्कूलों में हिन्दुस्तानी की पढ़ाई शुरू हुई। तब तक राष्ट्रभाषा का सरकारी नाम हिन्दुस्तानी था। श्रद्धेय टण्डन जी भी इससे सहमत थे लेकिन बाद में जब इस नाम के साथ दो लिपियों का सम्बन्ध जुड़ गया तब हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इसे अस्वीकार कर दिया। स्वयं काका साहब ने इसके पीछे के मनोविज्ञान को जिस तरह समझा था, उसकी चर्चा पीछे हो चुकी है। कुछ लोग दूसरी तरह सोचते थे और हिन्दी साहित्य सम्मेलन और टण्डन जी पर हिन्दू महासभाई मानसिकता का दोष लगाते थे। कुछ लोग सचमुच यह चाहते थे कि काका साहब राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के उपाध्यक्ष हैं इसलिए उन्हें हिन्दी शब्द का प्रयोग करना चाहिए और परीक्षा की पुस्तकों में जहाँ तक सम्भव हो सके उर्दू शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

काका साहब ऐसे आदेश नहीं मान सकते थे। उन्होंने उपाध्यक्ष के पद से त्यागपत्र दे दिया। पर बात इतनी ही नहीं थी। दिसम्बर, 1940 के सम्मेलन के पूना अधिवेशन में गांधी जी की बताई हुई हिन्दी की व्याख्या में परिवर्तन कर दिया गया, 'नागरी और फारसी दोनों लिपियों में लिखी जाती है', के स्थान पर हुआ "मुख्यतः नागरी लिपि में और कहीं-कहीं फारसी लिपि में लिखी

जाती है" । क्या कोई विद्यार्थी उर्दू में उत्तर लिख सकता है—यह प्रश्न भी सामने आया । काका साहब का मत था कि ऐसा करने में कोई हानि नहीं होगी परन्तु टण्डन जी ने निर्णय दिया कि सम्मेलन और उसकी समिति की परीक्षाओं में नागरी लिपि का ही प्रयोग होना चाहिए ।

इस प्रकार राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के कार्य में सम्मेलन का दखल बढ़ रहा था । वह इसकी व्यवस्था में न सहयोग देता था, न इस पर एक पैसा खर्च करता था । ऐसी स्थिति में समिति के कर्णधारों को लग रहा था कि दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार समिति की तरह सम्मेलन से अलग होने में ही हमारा कल्याण है । यह विचार उस समय और भी दृढ़ हो गया जब सन् 1941 के अबोहर सम्मेलन में टण्डन जी का यह प्रस्ताव मंजूर कर लिया गया कि "हिन्दी की 'हिन्दी शैली' और 'उर्दू शैली' दोनों अलग-अलग शैलियाँ हैं । सम्मेलन अपने और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति आदि अपनी समितियों के कामों के लिए हिन्दी शैली वाली हिन्दी का ही 'हिन्दी' नाम से प्रयोग करेगा और राष्ट्रभाषा के तौर पर उसका प्रचार करेगा ।"

उसके बाद जो कुछ हुआ और जैसे हुआ, यह हम देख चुके हैं । टण्डन जी की सहमति से गांधी जी ने मई, 1942 में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना की। उसने नागरी और उर्दू दोनों लिपियों का जानना अनिवार्य कर दिया । हिन्दुस्तानी भाषा में दोनों शैलियों का समावेश है । किसी शब्द विशेष के बहिष्कार का प्रश्न भी वहाँ नहीं है । गांधी जी, राजेन्द्र प्रसाद जी, जमनालाल जी और काका साहब ने समिति छोड़ने से पूर्व महाराष्ट्र और असम की प्रान्तीय समितियों को स्वतंत्र समितियाँ बना दिया । अब वे सम्मेलन अथवा वर्धा समिति की नीतियों से बँधी हुई नहीं थी । शेष प्रान्तीय संगठन तो स्वतंत्र थे ही ।

भारत स्वतंत्र…लेकिन…

काका साहब सन् 1945 में जेल से मुक्त हुए । उनके पीछे हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का काम श्री अमृतलाल नानावटी चला रहे थे पर नियमित रूप से काम शुरू हुआ गांधी जी और काका साहब के जेल से छूटने पर ।

कई प्रान्तीय समितियाँ वर्धा समिति से बन्धन तोड़कर हिन्दुस्तानी प्रचार सभा से सम्बन्ध जोड़ चुकी थी लेकिन सभा का काम गुजरात को छोड़कर और कहीं ठीक-ठीक न चल सका । देश में साम्प्रदायिक दंगे भड़क रहे थे और अगस्त सन् 1947 में देश स्वतन्त्र होने के साथ-साथ उसके टुकड़े भी हो गये ।

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा ने शुरू में विकेन्द्रीकरण की नीति अपनायी अर्थात्

प्रारम्भिक परीक्षाएँ लेने का अधिकार स्थानीय समितियों के हाथ में रहा। केवल 'कोविद' और 'विद्वान' परीक्षाएँ केन्द्रीय संस्था लेती थी। गुजरात का हिन्दुस्तानी प्रचार का कार्य सन् 1946 में गुजरात विद्यापीठ को सौंप दिया गया।

देश में बँटवारे से पहले और बाद में भी जो हत्याकांड मचा था उसकी परिणति अन्त में गांधी जी की हत्या में हुई। हर युग में कोई-न-कोई ईसा सूली का आलिंगन करता ही है। कुछ समय के लिए सभी जैसे दिग्भ्रमित हो उठे हों पर तुरन्त ही मार्च में सेवाग्राम वर्धा में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। देश-भर के अनेक कार्यकर्ता वहाँ इकट्ठे हुए। गांधी जी की इच्छा थी कि रचनात्मक कार्य करनेवाली जितनी भी अखिल भारतीय संस्थाएँ हैं वे सब मिलकर एक संस्था के रूप में काम करें। इस सम्मेलन में श्री कुमारप्पा ने यह विचार सबके सामने रखा। इस विचार का सभी ने अनुमोदन-समर्थन किया और इस प्रकार 'सर्व सेवा संघ' की स्थापना हुई। यह नाम काका साहब ने सुझाया था। इसका विधान बनाने में भी उन्होंने बहुत मदद की।

इस सम्मेलन ने यह भी निश्चय किया कि हर वर्ष सर्वोदय सम्मेलन का आयोजन किया जाए। ऐसे दो सम्मेलनों, अनुगुल (उड़ीसा) और शिवरामपल्ली (हैदराबाद) की अध्यक्षता काका साहब ने की थी।

अगले वर्ष सन् 1949 में गांधी स्मारक निधि की स्थापना हुई। इसके अन्तर्गत गांधी स्मारक संग्रहालय अस्तित्व में आया और इसके संचालक काका साहब नियुक्त किये गये। उन्होंने संग्रहालय को दो भागों में बाँटा। एक में वाचनालय और पुस्तकालय शामिल है। पुस्तकालय में सम्पूर्ण गांधी साहित्य रखा गया है। दूसरे भाग में वे सब पत्र या उनके फोटोस्टेट हैं जो गांधी जी ने अनेक लोगों को लिखे थे। उनको दिये गये मानपत्र, उनके चित्र और उनकी इस्तेमाल की गयी वस्तुएँ वहाँ सुरक्षित हैं।

इसी वर्ष, भारतीय संविधान सभा ने नागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दी को संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकृत किया।[1] गांधी जी की मान्यता को संविधान के निर्माताओं ने पूरी तरह स्वीकार नहीं किया। इस बात का असर हिन्दुस्तानी प्रचार पर पड़ना स्वाभाविक था लेकिन हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा ने इस निर्णय के बाद अपनी बैठक में इस विषय पर विचार किया और तय किया कि बापू जी के बनाये रास्ते पर चलना ही ठीक है।

काका साहब ने अपनी 'आत्म कथा' में लिखा भी है, "गांधी-निष्ठा के कारण मुझसे जितना हो सका उतना किया। एक मज़े की बात यह है कि पं. सुन्दरलाल

---

1. भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 के अनुसार 'संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी।'

साहब ने सम्पादित की पर 'मंगल-प्रभात' उनमें सबसे अलग है। वह 20 जनवरी, 1950 के दिन 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' के मुख पत्र के रूप में प्रकाशित होना शुरू हुआ था। तब वह मासिक था और काका साहब उसके सम्पादक थे। सन् 1957 से साप्ताहिक हो गया और सन् 1959 में पाक्षिक। इसकी विशेषता यह है कि इसमें लगभग काका साहब के ही लेख रहते थे। काका साहब नहीं रहे पर 'मंगल प्रभात' अब भी उनकी स्मृति मन में सँजोये उनकी रचनाएँ उनके अनेक सहयोगियों और प्रशंसकों तक पहुँचाता रहता है।

कितना लिखा है काका साहब ने !

अन्वेषक और शब्द-शिल्पी

काका साहब बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। प्रकृति का उपासक और नक्षत्रों का प्रेमी सर्जक तो होगा ही पर काका साहब गांधी जी के संसर्ग में आकर उतने ही सार्थक रचनात्मक कार्यकर्ता भी बन गये थे। पर यह सब अनायास ही नहीं हुआ था। उनमें जन्मजात अन्वेषक बुद्धि थी। उनका मौलिक चिन्तन भी उसी का परिणाम था। शब्द में उनकी जितनी श्रद्धा थी यंत्र के प्रति भी वे उतने ही अनुरक्त थे।

नागरी लिपि में जो सुधार उन्होंने सुझाये थे वे इसी अनुरक्ति का प्रमाण है। वे प्रस्तावित सुधार सबको स्वीकार्य नहीं हुए, वह अलग कहानी है।

नागरी लिपि रोमन लिपि की होड़ में पिछड़ न जाये इसलिए वह उसे अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक बनाने को उत्सुक थे। इस दृष्टि से उसमें क्या-क्या सुधार अपेक्षित हैं इस सम्बन्ध में उन्होंने काफ़ी खोज की थी। सन् 1935 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन के अवसर पर लिपि सुधार समिति की अध्यक्षता स्वीकार करने से पूर्व उन्होंने गांधी जी की अनुमति चाही थी। गांधी जी का उत्तर था कि अगर ऐसा करने से देश और हिन्दी का भला हो तो अवश्य यह बोझ उठाओ।

और काका ने वह बोझ उठा लिया।

गांधी जी ने तब एक और बड़ी बात कही थी, "मैं भी पहले से चाहता हो हूँ कि भारत की सब भाषाओं के लिए नागरी लिपि हो चले। अगर इतना हो गया तो देश के लोगों का काफ़ी समय बच जाएगा और भारत की भाषाएँ एक-दूसरे के नजदीक आसानी से आ सकेंगी।"

साहब ने सम्पादित कीं पर 'मंगल-प्रभात' उनमें सबसे अलग है। वह 26 जनवरी, 1950 के दिन 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' के मुख पत्र के रूप में प्रकाशित होना शुरू हुआ था। तब वह मासिक था और काका साहब उसके सम्पादक थे। सन् 1957 से साप्ताहिक हो गया और सन् 1959 में पाक्षिक। इसकी विशेषता यह है कि इसमें लगभग काका साहब के ही लेख रहते थे। काका साहब नहीं रहे पर 'मंगल प्रभात' अब भी उनकी स्मृति मन में सँजोये उनकी रचनाएँ उनके अनेक सहयोगियों और प्रशंसकों तक पहुँचाता रहता है।

कितना लिखा है काका साहब ने !

अन्वेषक और शब्द-शिल्पी

काका साहब बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। प्रकृति का उपासक और नक्षत्रों का प्रेमी सर्जक तो होगा ही पर काका साहब गांधी जी के संसर्ग में आकर उतने ही सार्थक रचनात्मक कार्यकर्ता भी बन गये थे। पर यह सब अनायास ही नहीं हुआ था। उनमें जन्मजात अन्वेषक बुद्धि थी। उनका मौलिक चिन्तन भी उसी का परिणाम था। शब्द में उनकी जितनी श्रद्धा थी यन्त्र के प्रति भी वे उतने ही अनुरक्त थे।

नागरी लिपि में जो सुधार उन्होंने सुझाये थे वे इसी अनुरक्ति का प्रमाण है। वे प्रस्तावित सुधार सबको स्वीकार्य नहीं हुए, वह अलग कहानी है।

नागरी लिपि रोमन लिपि की होड़ में पिछड़ न जाये इसलिए वह उसे अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक बनाने को उत्सुक थे। इस दृष्टि से उसमें क्या-क्या सुधार अपेक्षित हैं इस सम्बन्ध में उन्होंने काफी खोज की थी। सन् 1935 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन के अवसर पर लिपि सुधार समिति की अध्यक्षता स्वीकार करने से पूर्व उन्होंने गांधी जी की अनुमति चाही थी। गांधी जी का उत्तर था कि अगर ऐसा करने से देश और हिन्दी का भला हो तो अवश्य यह बोझ उठाओ।

और काका ने वह बोझ उठा लिया।

गांधी जी ने तब एक और बड़ी बात कही थी, "मैं भी पहले से चाहता हूँ कि भारत की सब भाषाओं के लिए नागरी लिपि ही चले। अगर इतना हो गया तो देश के लोगों का काफी समय बच जाएगा और भारत की भाषाएँ एक-दूसरे के नजदीक आसानी से आ सकेंगी।"

साहब ने सम्पादित की पर 'मंगल-प्रभात' उनमें सबसे अलग है। वह 26 जनवरी, 1950 के दिन 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' के मुख पत्र के रूप में प्रकाशित होना शुरु हुआ था। तब वह मासिक था और काका साहब उसके सम्पादक थे। सन् 1957 से साप्ताहिक हो गया और सन् 1959 में पाक्षिक। इसकी विशेषता यह है कि इसमें लगभग काका साहब के ही लेख रहते थे। काका साहब नहीं रहे पर 'मंगल प्रभात' अब भी उनकी स्मृति मन में संजोये उनकी रचनाएँ उनके अनेक सहयोगियों और प्रशंसकों तक पहुँचाता रहता है।

कितना लिखा है काका साहब ने !

अन्वेषक और शब्द-शिल्पी

काका साहब बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। प्रकृति का उपासक और नक्षत्रों का प्रेमी सर्जक तो होगा ही पर काका साहब गांधी जी के संसर्ग में आकर उतने ही सार्थक रचनात्मक कार्यकर्ता भी बन गये थे। पर यह सब अनायास ही नहीं हुआ था। उनमें जन्मजात अन्वेषक बुद्धि थी। उनका मौलिक चिन्तन भी उसी का परिणाम था। शब्द में उनकी जितनी श्रद्धा थी यंत्र के प्रति भी वे उतने ही अनुरक्त थे।

नागरी लिपि में जो सुधार उन्होंने सुझाये थे वे इसी अनुरक्ति का प्रमाण है। वे प्रस्तावित सुधार सबको स्वीकार्य नहीं हुए, वह अलग कहानी है।

नागरी लिपि रोमन लिपि की होड़ में पिछड़ न जाये इसलिए वह उसे अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक बनाने को उत्सुक थे। इस दृष्टि से उसमें क्या-क्या सुधार अपेक्षित हैं इस सम्बन्ध में उन्होंने काफी खोज की थी। सन् 1935 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन के अवसर पर लिपि सुधार समिति की अध्यक्षता स्वीकार करने से पूर्व उन्होंने गांधी जी की अनुमति चाही थी। गांधी जी का उत्तर था कि अगर ऐसा करने से देश और हिन्दी का भला हो तो अवश्य यह बोझ उठाओ।

और काका ने वह बोझ उठा लिया।

गांधी जी ने तब एक और बड़ी बात कही थी, "मैं भी पहले से चाहता हूँ कि भारत की सब भाषाओं के लिए नागरी लिपि ही चले। अगर इतना हो गया तो देश के लोगों का काफी समय बच जाएगा और भारत की भाषाएँ एक-दूसरे के नजदीक आसानी से आ सकेंगी।"

जी की सूचना के अनुसार दो लिपि वाली हिन्दुस्तानी का प्रचार शुरू करने के बाद मैंने उन्हें मदद के लिए बुलाया। उन्होंने ठण्डे दिल से कहा, 'मैं तो अब दोनों लिपियाँ छोड़कर रोमन लिपि चलाने के पक्ष में हूँ।' मैंने अपने मन में समझा कि सारी स्थिति समय-समय पर सविस्तार समझाने के बाद गांधी जी ने जो नीति चलायी है, वही देश के लिए हितकार होगी।"

(समन्वय के साधक, बढ़ते कदम, पृ० १९६)

जहाँ तक प्रान्तीय समितियों का सम्बन्ध है केवल पेरीन बहन की बम्बई सभा ने पहले की तरह दोनों लिपियों में परीक्षाएँ जारी रखीं और वर्धा हिन्दुस्तानी प्रचार सभा से सम्बन्ध बनाये रखा। गुजरात ने निश्चय किया कि परीक्षाएँ केवल एक लिपि में होंगी। उर्दू एक ऐच्छिक विषय के रूप में अलग से पढ़ायी जायेगी। असम ने भी एक लिपि को स्वीकार किया।

अगले वर्ष 26 जनवरी, 1950 को भारत गणराज्य बन गया। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति हुए। वे हिन्दुस्तानी प्रचार समिति के भी अध्यक्ष थे लेकिन अब ऐसा करना उनके लिए सम्भव नहीं रहा। उन्होंने अध्यक्ष के पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके स्थान पर काका साहब अध्यक्ष चुने गये लेकिन डॉ. राजेन्द्र प्रसाद समिति के सदस्य बने रहे और सभा के काम में सहयोग देते रहे।

सभा की एक शाखा दिल्ली में खोलने का विचार बहुत दिनों से चल रहा था। अन्त में मई, 1955 में 'गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा' के नाम से उस शाखा की स्थापना की गई। काका साहब ने भारत सरकार से सभा के लिए जमीन माँगी। डॉ राजेन्द्र प्रसाद और मौलाना आजाद की सिफारिश पर सन् 1956 में गांधी स्मारक निधि, राजघाट के पास जमीन मिल गयी। उसी पर 'गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा' का वर्तमान भवन खड़ा है। काका साहब ने इसका नाम रखा 'सन्निधि'। सन् 1951 में गांधी स्मारक संग्रहालय का कार्यालय दिल्ली में आने के बाद वह भी दिल्ली में स्थायी रूप से बस गए थे। अब वे 'सन्निधि' में आकर रहने लगे। अगले वर्ष केन्द्रीय सभा का कार्यालय

साहब ने सम्पादित कीं पर 'मगल-प्रभात' उनमे सबसे अलग है। वह 26 जनवरी 1950 के दिन 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' के मुख पत्र के रूप में प्रकाशित होना शुरू हुआ था। तब वह मासिक था और काका साहब उसके सम्पादक थे। सन् 195' से साप्ताहिक हो गया और सन् 1959 मे पाक्षिक। इसकी विशेषता यह है कि इसमे लगभग काका साहब के ही लेख रहते थे। काका साहब नही रहे पर 'मगल-प्रभात' अब भी उनकी स्मृति मन मे संजोये उनकी रचनाएँ उनके अनेक सहयोगियों और प्रशसको तक पहुँचाता रहता है।

कितना लिखा है काका साहब ने!

अन्वेषक और शब्द-शिल्पी

काका साहब बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। प्रकृति का उपासक और नक्षत्रों का प्रेमी सर्जक तो होगा ही पर काका साहब गांधी जी के ससर्ग मे आकर उतने ही सार्थक रचनात्मक कार्यकर्ता भी बन गये थे। पर यह सब अनायास ही नही हुआ था। उनमे जन्मजात अन्वेषक बुद्धि थी। उनका मौलिक चिन्तन भी उसी का परिणाम था। शब्द मे उनकी जितनी श्रद्धा थी यत्र के प्रति भी वे उतने ही अनुरक्त थे।

नागरी लिपि मे जो सुधार उन्होने सुझाये थे वे इसी अनुरक्ति का प्रमाण है। वे प्रस्तावित सुधार सबको स्वीकार्य नही हुए, वह अलग कहानी है।

नागरी लिपि रोमन लिपि की होड मे पिछड न जाये इसलिए वह उसे अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक बनाने को उत्सुक थे। इस दृष्टि से उसमे क्या-क्या सुधार अपेक्षित है इस सम्बन्ध मे उन्होने काफी खोज की थी। सन् 1935 मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन के अवसर पर लिपि सुधार समिति की अध्यक्षता स्वीकार करने से पूर्व उन्होने गांधी जी की अनुमति चाही थी। गांधी जी का उत्तर था कि अगर ऐसा करने से देश और हिन्दी का भला हो तो अवश्य यह बोझ उठाओ।

और काका ने वह बोझ उठा लिया।

गांधी जी ने तब एक और बड़ी बात कही थी, "मैं भी पहले से चाहता ही हूँ कि भारत की सब भाषाओ के लिए नागरी लिपि ही चले। अगर इतना हो गया तो देश के लोगो का काफी समय बच जाएगा और भारत की भाषाएँ एक-दूसरे के नजदीक आसानी से आ सकेंगी।"

जब इन्दौर अधिवेशन मे एक लिपि सुधार समिति बनायी गयी तब गाँधी जी के सुझाव पर काका साहब को उसका अध्यक्ष बनाया गया। कई साल प्रयत्न करते रहने पर सम्मेलन ने लिपि सुधार की बात मान्य की। फिर भी कहा कि अभी उत्तर प्रदेश मे इसका प्रचार न किया जाए। इस काम मे काका साहब को श्री पुरषोत्तमदास टण्डन तथा डॉ. बाबूराम सक्सेना जैसे भाषा-शास्त्रियों का समर्थन प्राप्त था।

इस समिति ने सुधरी लिपि का जो रूप प्रस्तुत किया उसका प्रयोग राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा द्वारा तैयार की गयी पुस्तको मे सबसे पहले किया गया। फिर बम्बई (तब गुजरात, बम्बई और महाराष्ट्र एक थे) के हिन्दुस्तानी बोर्ड ने अपनी पुस्तको मे इसका प्रयोग किया। महात्मा गाँधी की गुजराती आत्मकथा की एक आवृत्ति भी इसी लिपि मे प्रकाशित की गयी थी।

'भारत छोडो' आन्दोलन के समय जब काका साहब जेल मे थे तब विनोबा और किशोरीलाल भाई भी उनके साथ थे। उन तीनो ने मिलकर नागरी लिपि का सुधरा रूप तैयार किया था। मुख्य सुधार 'अ', की स्वराखडी को लेकर था। प्रचलित स्वरों के स्थान पर यह रूप स्वीकार किया गया, 'अ आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै, ओ, औ, अं, अः।' अ, आ, ओ, औ, अं, अः ये छ रूप तो पहले ही चलते थे। केवल ये छ रूप बदले, अि (इ) अी (ई) अु (उ) अू (ऊ) अे (ए) अै (ऐ)।

काका साहब के कहने पर गांधी जी ने नवजीवन प्रेस के व्यवस्थापक श्री जीवन जी देसाई को सूचना दी कि वे भी इसी लिपि का प्रयोग करें। जब तक 'हरिजन सेवक' चला उसमें इसी लिपि का प्रयोग होता रहा। उनका साहित्य उनकी मृत्यु के कुछ वर्ष बाद तक इसी लिपि में छपता रहा।

लेकिन अन्ततः हिन्दी भाषा-भाषियों ने काका साहब द्वारा प्रचलित सुधरी लिपि को स्वीकार नहीं किया। पं. गोविन्द वल्लभ पन्त ने लखनऊ में सब प्रान्तों के मुख्य मन्त्रियों की बैठक बुलायी थी। उसने 'अ' की स्वराखडी नामंजूर कर दी। उसके बाद धीरे-धीरे इसका प्रचलन समाप्त हो गया।

लखनऊ सम्मेलन ने छोटी 'इ' की मात्रा का प्रचलित रूप के स्थान पर बड़ी 'ई' की मात्रा को थोड़ा छोटा करके प्रयुक्त करने का निश्चय किया पर यह रूप विद्यार्थियों को रास नहीं आया। सम्मेलन ने जो सुधार स्वीकार किये थे वे हिन्दी भाषा भाषियों ने नहीं माने। इस प्रकार काका साहब के सारे प्रयत्न विफल

वे लोग देश-विदेश के आशुकार लोगों से पत्र-व्यवहार करते थे। फिर सोचते थे कि कौन-से अक्षर बार-बार प्रयोग में आते हैं, उनके लिए टाइपराइटर में कहाँ स्थान हो, उनके लिए कौन-सी उंगली काम में लानी चाहिए और फिर कुंजी-पटल की क्या व्यवस्था हो। इन सब बातों पर सूक्ष्मता से विचार करने के बाद उन लोगों ने एक वर्णपत्रक (की बोर्ड) तैयार किया।

काका साहब सोचते ही नहीं, प्रयोग करके देखते भी थे। दावके की तरह एक और सहायक श्री पाण्डुरंग भुरके उनके साथ रहते थे। वह टाइप करते थे। कभी-कभी दोनों में होड़ चलती। काका जो कुछ बोलते उसे दावके आशु लिपि में लिखते और भुरके सीधे टाइप की मशीन पर टाइप करते जाते। इस होड़ से काका साहब को दोनों विधियों की उपयोगिता और सामर्थ्य का पता चलता।

इस योजना को सफल बनाने के लिए विद्यार्थियों की भी ज़रूरत थी, इसलिए समिति की ओर से वर्धा में हिन्दी आशु लिपन और टाइपराइटिंग की कक्षाएँ भी खोली गयी।

जब सन् 1948 में देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद केन्द्रीय सरकार ने नागरी आशु लिपि और टकण यंत्र (टाइपराइटर) के लिए एक समिति बनाई तो काका साहब को उसका अध्यक्ष बनाया। उनके नेतृत्व में समिति ने योजना तैयार की। कई वर्ष बाद सरकार ने उसे जनता के विचारार्थ प्रकाशित भी किया और अन्ततः दूसरी भाषाओं की विशेष ध्वनियों को आत्मसात करने की दृष्टि से और टकण की सुविधा के लिए लिपि में कुछ सुधार स्वीकार किये। उसी के अनुसार टाइपराइटर का वर्ण पटल या कुंजी पटल—'की बोर्ड' तैयार किया। लिपि का वही सुधरा रूप अब सर्वमान्य है और उसमें समय-समय पर कुछ उपयोगी संशोधन भी किये जा रहे हैं।

इसी प्रकार काका साहब ने 'नागरी टाइप' के बारे में भी सोचा था। नागरी टाइपों की कम्पोजिंग तीनमंजिली होती है। उदाहरण के लिए प, क, की एक मंजिली; पे, के, की दो मंजिल; और पु, कु, की तीन मंजिल। अंग्रेजी में एक ही मंजिल होती है। उसमें ऊपर-नीचे मात्राएँ नहीं लगती। सब बराबर रहता है। ऐसी सुविधा नागरी में भी हो इसके लिए वे पूना गये। वहाँ पहले तो

एक कलाकार से शिरो रेखा विहीन नागरी के सुन्दर अक्षर बनवाये और मात्राओं को लगाने की व्यवस्था बाजू में की। फिर टाइप फाउण्ड्री में जाकर टाइप बनवाए। यह सन् 1939-40 की बात है। इस टाइप में छपाई के नमूने 'सबकी बोली' पत्रिका में देखे जा सकते हैं। महाराष्ट्र के ही श्री विजापुरकर ने भी ऐसा टाइप तैयार किया था। दिल्ली का हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस कभी इसका प्रयोग करता था।

राष्ट्रभाषा हिन्दी को भारत जैसे महान देश के योग्य भाषा बनाने के लिए क्या नहीं किया उन्होंने। उनकी शब्द-सम्पदा बढ़ाने के लिए उन्होंने 'सबकी बोली' में कई सुन्दर लेख लिखे थे। उनकी मान्यता थी, इन विदेशी शब्दों के बदले कई स्वदेशी शब्द अपने यहाँ मौजूद हैं। उन्हें हम सिर्फ आलस्य या प्रमादवश काम में नहीं लाते। जहाँ पुराने शब्द नहीं हैं, वहाँ पर आम फहम या लोक-सुलभ शब्द बनाये भी जा सकते हैं। देशी शब्दों को काम में लेने से और उनका भाव समझने से जो शिक्षा जनता को मिलती है, वह विदेशी शब्दों से नहीं मिल सकती।[1] जब देश का सारा कारोबार देशी भाषा में चलाने का निश्चय हो चुका है तब देश को अपनी टकसाल खोलनी ही चाहिए।[2] उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में बताया, "हम अपनी भाषा का ख्याल किये बिना ही उनके नये-नये शब्दों को ज्यों-का-त्यों अपना लेते हैं। यह दिमागी गुलामी ही हमसे अपनी भाषा के प्रति विद्रोह का पाप कराती है। जिनमें अपनी भाषा के नये-नये शब्दों को गढ़ने की शक्ति, अभ्यास और प्रतिभा है उन्हीं को यह अधिकार है कि पर-भाषा के भंडार से कितने और कौन-से शब्द लिए जाएँ इसका निर्णय कर दें। और यह भी कि अपनी भाषा में जो चल सके ऐसे नये शब्द बना लेना, उन्हें चलाना और उनका प्रचार करना, ये अलग-अलग शक्तियाँ हैं। दोनों शक्तियों का जब हमारी जाति में विकास होगा तभी हम सच्चे भाषा भक्त कहलाने के अधिकारी होंगे।"[3]

काका साहब न केवल व्युत्पत्ति शास्त्र में निष्णात थे बल्कि वह बहुभाषाविद् भी थे—मराठी, गुजराती और हिन्दी में उन्होंने विपुल साहित्य का प्रणयन किया है। इनके अतिरिक्त कोंकणी, कन्नड, अंग्रेजी और बाङ्ला से भी उनका प्रगाढ़ परिचय था। ऐसे व्यक्ति ने अंग्रेजी के हजारों शब्दों के पारिभाषिक शब्द घड़े हैं। काका साहब पांडित्य के बोझ से कभी आतंकित नहीं होते थे। उनके घड़े शब्द सार्थक और रोचक ही नहीं हैं, हमारी संस्कृति से भी जुड़े हैं। प्रमाणस्वरूप पच्ची— ऐसे शब्द प्रस्तुत हैं :

1	कास्टिंग वोट	तुलसी पत्र (रुक्मिणी ने जब श्री कृष्ण की तुला की तब एक पलड़ा भारी करने के लिए उन्होंने उसमें तुलसी पत्र रख दिया था)
2	क्लोज़र	अलम् चर्चा का प्रस्ताव
3	आर्डर-आर्डर	अदब-अदब, व्यवस्था
4	सरक्यूलर	परिपत्र
5	फाउनटेन पेन	मसिपूर्णा या स्याहीज़री
6	पेपर कटर	कृतिका (वैदिक काल में लोग चमड़ा आदि काटने के काम में इसी नाम के औजार का उपयोग करते थे)
7	अल्बम	चित्र मजूषा
8	पिक्चर गैलरी	वियीका या चित्र वीथि (पिक्चर गैलरी के लिए उत्तर रामचरित्र में वीथी या वीथि का शब्द आया है)
9	कालबेल	किंकिणी
10	रैक	घरी या घरावली
11	आलपिन	नथनी
12	डस्टर	पुच्छन
13	लाउडस्पीकर	रावण (विश्रवा ऋषि का लड़का, पैदा होते ही वह इतने जोर से चिल्लाया कि पिता ने उसका नाम रावण रख दिया)
14	रिपोर्टर	नारद
15	रिपोर्टिंग	नारदना
16	आर्ट ऑफ रिपोर्टिंग	नारदकला
17	टार्च	कर दीपक या चमकी
18	रेडियो	श्रावक
19	एरियल	विद्युत्पाश या पाश
20	बल्ब	अनार
21	वेटिंग रूम	दाभी घर
22	लाइन क्लियर	उत्कीलन (मंत्र के प्रभाव में जो विघ्न होता है, उसे दूर करने के लिए उत्कीलन मंत्र प्रयुक्त होता है)
23	इरीगेशन	भगीरथ विद्या

24	डायरी	वासरी
25	गेम सेंक्चुरी	अभयारण्य

काका साहब अपने कार्य मे कहाँ तक सफल हुए मुख्य बात यह नही है, मुख्य बात यह है कि उन्होने इस बारे मे सोचा, प्रयत्न किये और सरकार तथा जनता दोनो को सोचने और निर्णय लेने को विवश किया। सफलता कभी किसी की महानता की कसौटी नही होती। कसौटी होती है सफलता के लिए किये गये अनथक और निष्काम प्रयत्न।

काका साहब इस परीक्षा मे सदा खरे उतरे।

चिरप्रवासी

ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुछन्दा को गुरुमत्र मिला था—'चर' (चलते रहना)। काका साहब ने लिखा है, "जिस प्रकार वर्षा के शुरू होते ही साँड अपने सींगो से जमीन खोदकर उसे सूँघने लगता है उसी तरह यात्रा का अवसर प्राप्त होते ही मनुष्य के पैर बिना पूछे चलने लगते हैं। यदि कोई उससे पूछता है—"कहाँ चले!" तो वह कह देता है—"मैं कुछ नही जानता। जहाँ तक जा सकूँगा, चला जाऊँगा। जाना, चलना, नई-नई अनुभूतियाँ प्राप्त करना बस इतना ही मैं जानता हूँ। आँखें प्यासी है, शरीर भूखा है, इसलिए पैर चलते हैं, इससे अधिक मैं कुछ नही जानता। अर्थात् 'कालोह्य निरवधि' मानकर 'विपुला पृथ्वी' की परिक्रमा पर निकल पड़ना ही मेरा उद्देश्य है।"[1]

काका साहब को समझने के लिए 'चिरप्रवासी' यह एक शब्द बहुत सही है। उनकी आकुल आत्मा मुक्त गगन मे विचरण के लिए सदा व्याकुल रही। गुजरात विद्यापीठ मे वे बँधकर बैठे क्योकि गांधी जी का आदेश था। लेकिन अवसर आते ही बन्धनमुक्त हो गये। राष्ट्रभाषा हिन्दी के काम का अर्थ था भ्रमण और भ्रमण।

सन् 1912 से सन् 1972 तक देश-विदेश के न जाने कितने पथ घाटों पर उनके चरण चिह्न अकित हुए थे। सन् 1912 मे जब एक ओर देश की मुक्ति के लिए पथ की खोज उन्हे बेचैन किये थी दूसरी ओर मन आध्यात्मिक आनन्द की ओर खिच रहा था, वे सब कुछ छोड़कर हिमालय की यात्रा पर निकल पड़े थे। प्रकृति से उन्हें अनन्य प्रेम रहा है। सतत् प्रवाहमयी सरिताओ से ही उन्होंने चिर-यात्री रहने की दीक्षा ली है। नक्षत्रो के सौन्दर्य मे उन्होने दिशा ही नहीं पायी,

1. ज्योतिपुञ्ज हिमालय—विष्णु प्रभाकर, पृ० 13

गरिमा भी खोजी है। मानो असीम आकाश में डूबकर नाना रश्मियों के समूह से निर्मित नाना विचार जगतों का उन्होंने आविष्कार किया है। अपनी इस तन्मयता के कारण ही वह गांधी जी जैसे व्यक्ति को नक्षत्रों के इस रहस्यमय सौन्दर्य की ओर आकर्षित कर सके। परन्तु हिमालय के प्रति उनमें सहज आकर्षण था। चाहे वह कितने ही दूर हो, चाहे मार्ग कितना ही विकट हो, झरनों का संगीत उन्हें अपनी ओर खींच ही लेता था। अपने देश में उन्होंने जितना भ्रमण किया उससे कम विदेशों की यात्रा नहीं की। उनका घूमना मात्र सैलानियों का घूमना नहीं था। वह जहाँ जाते थे भारतीय संस्कृति के अग्रदूत की दृष्टि से जाते थे और उस देश की संस्कृति में जो कुछ ग्रहण करने लायक हो, ग्रहण करते थे। उनके विपुल साहित्य में प्रकृति के परम के साथ दृष्टि की व्यापकता का सहज ही अनुभव किया जा सकता है। उन्होंने कहा है, "यदि जीवन में यौवनपूर्ण प्राण हो तो उस अज्ञात का आमन्त्रण टाले नहीं टलता। अज्ञात का पीछा करना, उसका अनुभव करना, उस पर विजय पाकर उसे ज्ञात बनाना ही जीवन का बड़े-से-बड़ा आनन्द और अच्छे-से-अच्छा पौष्टिक अन्न है। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा अज्ञात पर एक प्रकार की विजय प्राप्त की जा सकती है और यात्रा द्वारा दूसरे प्रकार की। यात्री ज्यों-ज्यों यात्रा करता जाता है त्यों-त्यों वह अपने चातुर्य का विकास करता है और अन्त में अच्छे-से-अच्छा समाजशास्त्री बनता है।"

चिन्तन के क्षेत्र में मौलिकता, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और गहरे-से-गहरे रहस्य को सहज भाव से आकलन करने की जो क्षमता उनमें दिखाई देती है, उसमें इन यात्राओं का योग कम नहीं है। यात्राओं ने उन्हें दृष्टि दी है और दृष्टि वही है जो 'पर' के अन्तर को भेदकर विचारों की विभिन्नता में एकता के दर्शन करती है। काका साहब के साहित्य में वही दृष्टि है। अपनी अफ्रीका यात्रा के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है, "हिन्दू संस्कृति का सच्चा रहस्य समझने के बाद और संसार के सारे धर्मों के प्रति आदर का भाव पैदा होने के बाद जैसे सारे धर्म मुझे सच्चे, अच्छे और अपने ही लगते हैं, वैसे ही संसार के सारे देश मुझे भारत भूमि के जैसे ही पवित्र और पूज्य मालूम होते हैं। अतः जिस भक्तिभाव से मैं सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर हिमाचल तक की यात्रा कर सका, उसी भक्तिभाव से अफ्रीका देखने की इच्छा हुई। दुनिया की सारी नदियाँ मेरे ही सगे-सम्बन्धियों की लोक माताएँ हैं, हरेक सरोवर मानसरोवर जितना ही पवित्र है। हरेक पर्वत हिमालय जितना ही देवात्मा है। हरेक नदी का उद्गम ईश्वर के आशीर्वाद जैसा ही शुभ और श्रेयस्कर है, ऐसी दृढ़ भावना लेकर ही मैं अफ्रीका देखने निकला।"

हिमालय के बारे में उन्होंने लिखा—

"हिमालय का वैभव दुनिया के तमाम सम्राटों के समस्त वैभव से बढ़कर है। हिमालय हमारा वही महादेव है, सारे विश्व की समृद्धि को आबाद करते हुए

भी अविच्छ, विरत, शान्त और ध्यानस्थ। हिमालय जाकर उसे ही हृदय में ध्यानस्थ कर लेना, जो जिसकी शक्ति हो, उसने ही जीवन पर विजय पायी। ऐसे को अनन्त प्रणाम।"

हिमालय तथा भारत के अन्य पवित्र स्थानों की दिशा या सत्य की खोज में की गयी यात्राओं के अतिरिक्त काका साहब ने गांधी जी के साथ तथा हिन्दी प्रचार के सम्बन्ध में कई बार समूचे भारत की यात्रा की। कैसा भी व्यस्त और महत्वपूर्ण कार्य हो वह नदी-प्रपात, समुद्र, पर्वत, आकाश इनके आकर्षण से अपने को कभी मुक्त नहीं कर पाये। सन 1950 से लेकर सन् 1972 तक उन्होंने अफ्रीका, अमेरिका, योरोप और एशिया महाद्वीपों के अनेक देशों की सांस्कृतिक यात्राएँ की। जापान तो जैसे उनका दूसरा घर हो गया था। सन् 1954 से 1972 तक वे 8 बार वहाँ की यात्रा पर आ गये थे।

भारत सरकार ने विशेष रूप से, विदेशों से सम्बन्ध दृढ़ करने की दृष्टि से 'भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद्' की स्थापना की थी। उस समय उसके अध्यक्ष मौलाना आज़ाद थे और उपाध्यक्ष थे काका साहब। तभी सन् 1950 में मई से अगस्त तक उन्होंने पूर्वी अफ्रीका की यात्रा की थी। अफ्रीका प्रवास के इन अनुभवों को उन्होंने अपनी पुस्तक 'उस पार के पड़ोसी' (1951, मूल गुजराती) में संकलित किया। उस समय वहाँ भारत सरकार के प्रतिनिधि श्री अप्पा पन्त थे। उन्होंने इस यात्रा का आकलन करते हुए लिखा है, "मनुष्य-मनुष्य के बीच स्नेह सम्बन्ध का विकास करने में धर्म, वंश, संस्कृति या जाति के भेद कभी बाधक नहीं हुए हैं···अपनी विविध सभाओं में—अंग्रेज, अफ्रीकी, भारतीय और अरबी श्रोता गणों के सामने काका साहब इस विषय के सम्बन्ध में अत्यन्त सौन्दर्य के साथ हृदय को छू जानेवाली भाषा में अपने विचारों का विकास करते रहे। वह मराठी, गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी में बोलते थे। वह एक कवि की तरह बोलते थे, एक माता के वात्सल्य से बोलते थे···सौम्यभाषी, ताज़े विचार, चित्रों को दर्शाते—जो सुननेवाले को, स्पर्धा, हानि, लाभ, सत्ता-संघर्ष और दुर्दशा की दुनिया से कहीं दूर उड़ा ले जाते।"

"अफ्रीका में बसनेवाले भारतीयों ने काका साहब की स्पष्ट दृष्टि के द्वारा प्रथम बार अनुभव किया कि अफ्रीकी मनुष्य के हृदय में भी सौन्दर्य और स्नेह बसते हैं···जिस तरह अफ्रीकी लोग जोमो केन्याटा, न्येरेरे, म्बोया जैसे नेता से लेकर अशिक्षित नौकरों तक काका साहब के प्रवचनों को मंत्रमुग्ध होकर सुनते थे यह देखने योग्य दृश्य था। उनमें से अधिकांश व्यक्ति समझ भी नहीं पाते थे कि क्या कहा जा रहा है किन्तु उन सबके लिए काका साहब 'बातु अमुगु' (भगवान के सन्देश-वाहक) थे···वह मानवीय संस्कृति के पोषक थे। विश्व भर के युगों की समस्त संस्कृति उनकी विरासत थी। ऐसी विशाल दृष्टि का विरोध कौन कर

सकता है, विशेष कर जब इतने सादे और ज्वलंत शब्दों में समझाया जाए। सन् 1950 में भारत अफ्रीका के सम्बन्धों का श्रीगणेश हो ही रहा था। किसी और से अधिक काका साहब ने ही इस विकास काल को नया और मार्मिक आयाम दिया।" [समन्वय के साधक, पृ० 51]

काका साहब की यात्राओं के प्रभाव का आकलन इससे अधिक सुन्दर शब्दों में नहीं किया जा सकता। वह सही मायने में भारत के सांस्कृतिक राजदूत थे।

उन्होंने अगले वर्ष सन् 1951 में सितम्बर से नवम्बर तक पश्चिमी यूरोप और अफ्रीका के गोल्डकोस्ट, नाइजीरिया और मिस्र देश का दौरा किया। सन् 1954 के मार्च-अप्रैल मास में वे पहली बार जापान गये। वहाँ होने वाली विश्व शान्ति परिषद् में वे गांधी स्मारक निधि के प्रतिनिधि थे। इस यात्रा में जापान में गांधी जी के सिद्धान्तों में आस्था रखनेवाले पूर्व परिचित बौद्ध साधु निचिदात्सु फुजीई गुरु जी से उनके सम्बन्ध और भी प्रगाढ़ हुए। काका साहब की *प्रार्थना पर गुरु जी ने सन् 1958 में दो विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ने भारत भेजा,* जो पाँच साल भारत में रहे।

जापान में दूसरी बार सन् 1957 में जाने का अवसर तब मिला जब वहाँ अणु बम विरोधी शान्ति परिषद् का आयोजन हुआ था। इन दोनों यात्राओं के आधार पर उन्होंने गुजराती में 'उगमणो देश' के नाम से सन् 1958 में एक यात्रावृत्त प्रकाशित किया। इसी वर्ष वे चीन, थाईलैण्ड और कम्बोडिया भी गये। सन् 1958 में 'भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद्' की ओर से सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कार्यक्रम के अन्तर्गत जून-जुलाई में उन्होंने दक्षिण अमेरिका, वेस्टइण्डीज, ब्रिटिश गुयाना, सूरीनाम और त्रिनिडाड की यात्रा की। संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ दर्शनीय स्थान देखे और नीग्रो नेता मार्टिन लूथर से भेंट की। इस भेंट की चर्चा करते हुए श्रीमती मेरी कुशिंग नाइल्स ने लिखा है, "डॉ. किंग ने महात्मा गांधी के विचार और कार्य का और अहिंसा द्वारा परिवर्तन लाने की सम्भावना का गहरा अध्ययन किया था। अब पहली बार अहिंसा की तकनीक पर गहराई में उतरकर चर्चा करने का अवसर मिल रहा था—एक ऐसे नेता के साथ जिन्होंने भारत को ब्रिटिश राज्य से मुक्ति दिलाने वाले अहिंसक आन्दोलन में सक्रिय योगदान दिया था।" [समन्वय के साधक, पृ० 116-17]

स्वयं डॉ. किंग की पत्नी कोरेटा ने कहा था कि मोंटगोमरी की काका साहब की मुलाकात ने मार्टिन के जीवन पथ को एक नया मोड़ दिया, क्योंकि उनको अहिंसक तकनीकों की गहरी चर्चा करने का अवसर मिला, जिससे उनके नेतृत्व में नये स्फूर्तिदायक तत्वों का विकास हुआ।

इसी यात्रा में वे मिस्र, इटली, पश्चिमी जर्मनी, बेल्जियम और इंग्लैंड भी गये। अपने ग्रन्थ '[illegible] प्रवास' में उन्होंने इस यात्रा का रोचक वर्णन किया है।

आच्छादित वातावरण को देखकर मुझे लगा कि प्राचीन काल के ऋषि लोग इसी तरह वृक्षों के नीचे बैठकर विचार-विनिमय किया करते होंगे।

गोर्की इंस्टीट्यूट मे हम केवल चार व्यक्ति थे। काका साहब, सरोजिनी बहन, असम के सुप्रसिद्ध साहित्यकार नीलमणि फूकन और मैं। आकाश मे बादल छाये थे। कभी-कभी बूंदें पड़ने लगती थीं। पुराने मास्को मे लकड़ी की चाहरदीवारी से घिरे गोर्की के इस घर का मुख्य द्वार वैसा ही जर्जर, कमरे, उनकी सजावट, बगीचा सब कुछ पुराना। जान-बूझकर सुरक्षित रखा गया है इस पुरानेपन को ताकि अगस्त अभ्यागत गोर्की को उसके युग मे देख सके।

सब कुछ देखा हमने। गोर्की की पुत्रवधू जो मैडम के नाम से प्रसिद्ध थी बड़ी नम्रता से काका साहब के जिज्ञासु मन को शान्त करने की कोशिश कर रही थी। भारत भाषाविद् श्री सेरेब्रियाकोव दुभाषिया का काम कर रहे थे। काका की जिज्ञासा का अन्त नही था। गोर्की के शयन कक्ष मे भगवान बुद्ध की मूर्ति देखकर काका बोले, "तॉल्स्ताय जिस प्रकार भारत और हिन्दू धर्म मे रुचि रखते थे क्या गोर्की की भी वैसी रुचि थी ?"

मैडम ने तुरन्त उत्तर दिया, "जी हाँ, थी। विशेषकर बौद्धधर्म मे। उसको वह बहुत महत्त्व देते थे। बहुत-सा साहित्य उन्होने इकट्ठा किया था। स्वय महात्मा बुद्ध की सौ से अधिक मूर्तियाँ उनके पास थी। बाद मे वे सब उन्होने कला भवन को प्रदान कर दी।"

डायरेक्टर ने बताया कि ऐथिकल साइन्स मे विशेष रूप से उनकी रुचि थी।

काका साहब बोले, "धर्म के सम्बन्ध मे मैंने तॉल्स्ताय के विचार तो पढ़े है परन्तु गोर्की के नही।"

मैडम बोली, "तॉल्स्ताय के संस्मरणो मे गोर्की ने धर्म के सबध में काफी चर्चा की है। ये संस्मरण 'लिटरेरी पोर्टरेट्स' नामक पुस्तक में सकलित है।"

गम्भीर होते-होते काका साहब सहसा बालोचित शरारत पर उतर आते। मैडम गोर्की की रुचि के बारे में बता रही थी। बोली, "ताश खूब खेलते थे। उनके साथ खेलने मे मजा आता था।"

काका साहब मुस्कराए, "आपके साथ भी खेलते थे ?"

मैडम हँसी, "क्यो नही, सबके साथ खेलते थे।"

"और सबके साथ घूमते भी थे ?"

"जी हाँ, विशेषकर अपनी पोतियो के साथ घूमना उनको बहुत प्रिय था।"

काका साहब बोले, "जब गोर्की अपनी पोतियो को इतना प्यार करते थे तो वे भी अपने पितामह पर राज्य करती होंगी। दुनिया का अनुभव है कि पौत्र और पौत्रियाँ अपने दादा पर जुल्म करने में आनन्द मानते हैं।"

हम सब हँस पड़े। मैडम बोली, "जी हाँ, हमारा भी अनुभव ऐसा ही है।"

[illegible] 1955 में [illegible] के [illegible] के बाद उन्होंने [illegible] [illegible] और [illegible] की यात्रा की।

काका साहब [illegible] 1962 में गये। यह यात्रा [illegible] [illegible] रही। सन् 1961 के दिसम्बर मास में भारत सरकार ने गोआ को पुर्तगाल की दासता से मुक्त कराया था। तब [illegible] के [illegible] शासन करने का निमन्त्रण देते हुए [illegible] "भारत सरकार ने, जो हमेशा कमजोर का [illegible] [illegible] का समर्थन करती थी, ऐसा कदम क्यों उठाया, यह [illegible] की [illegible] [illegible] चाहती है।"

इसी निमन्त्रण पाकर काका [illegible] गए और वहाँ के लोगों को भारत सरकार का दृष्टिकोण समझाया। इसी वर्ष जुलाई में विश्व शान्ति परिषद् में भाग लेने के लिए रूस गए। इस यात्रा में इन पंक्तियों के लेखक को कुछ दिन उनके साथ रहने का सुयोग मिला था। विशेषकर तॉल्स्ताय के गाँव यास्नाया पोल्याना की यात्रा के अवसर पर और मास्को इत्यादि में उनकी कुशलता से बातें करते समय। यास्नाया पोल्याना की यात्रा में हमारे साथ बहुत बड़ा दल था। लगभग सौ व्यक्ति थे सारे देश के। उस समय गांधी जी के अन्तरंग साथी होने के कारण वे सहज रूप से हमारे नेता बन गए थे। तॉल्स्ताय गांधी जी के मानस गुरु थे। इस तथ्य को रेखांकित करते हुए बहुत सुन्दर और प्रभावशाली भाषण दिया था उन्होंने। कहा, "हम भारतीय प्रतिनिधियों में से अनेक व्यक्तियों ने गांधी जी के अधीन कार्य किया है। हमें पता है कि वह तॉल्स्ताय को कितना प्यार करते थे। उनका कितना आदर करते थे। गांधी जी ने हमसे कहा था कि हम तॉल्स्ताय की कृतियों का तमाम भारतीय भाषाओं में अनुवाद करें। तॉल्स्ताय ने रूस की अन्तरात्मा को प्रस्तुत किया है और भारत की अन्तरात्मा को भी। भारतीय लोग तॉल्स्ताय की आत्मा में अपने मनीषी का दर्शन करते हैं। हम यहाँ एक अजनबी के रूप में नहीं आये हैं, एक भक्त के रूप में यहाँ आये हैं। मात्र एक दर्शक के रूप में नहीं आये हैं एक श्रद्धालु तीर्थयात्री के रूप में आये हैं। तॉल्स्ताय ने रूस की अन्तरात्मा को विश्व के सामने प्रस्तुत किया है। जैसे वह आत्मा अमर है वैसे ही ये भी अमर हैं। मनीषी रोमा रोलाँ ने बड़े आदर के साथ उनका जिक्र किया है।"...

सब कुछ घूम-घूमकर देखा हमने। गाँव के सभी निवासियों ने हमें घेर लिया था। जिस समय काका साहब तॉल्स्ताय की समाधि पर नतमस्तक हुए वह दृश्य मैं नहीं भूल सकता। पेड़ों के नीचे लम्बी घास पर बैठे रूसी और भारतीयों के बीच वे ऋषि तुल्य लग रहे थे। पंजाब के दो प्रसिद्ध सिख क्रान्तिकारी भी साथ बैठे थे। उनकी भी शुभ्रश्वेत दाढ़ियाँ चमक रही थीं। रूसी लोग दो वस्तुओं के प्रति बड़े आकर्षित होते हैं, दाढ़ी और साड़ी। तब उन तीन श्वेत दाढ़ियों से

आच्छादित वातावरण को देखकर मुझे लगा कि प्राचीन काल के ऋषि लोग इसी तरह वृक्षों के नीचे बैठकर विचार-विनिमय किया करते होंगे।

गोर्की इन्स्टीट्यूट में हम केवल चार व्यक्ति थे। काका साहब, सरोजिनी बहन असम के सुप्रसिद्ध साहित्यकार नीलमणि फूकन और मैं। आकाश में बादल छाये थे। कभी-कभी बूंदें पड़ने लगती थीं। पुराने मास्को में लकड़ी की चाहरदीवारी से घिरे गोर्की के इस घर का मुख्य द्वार वैसा ही जर्जर, कमरे, उनकी सजावट, बगीचा सब कुछ पुराना। जान-बूझकर सुरक्षित रखा गया है इस पुरानेपन को ताकि अगस्त अभ्यागत गोर्की को उसके युग में देख सकें।

सब कुछ देखा हमने। गोर्की की पुत्रवधू जो मैडम के नाम से प्रसिद्ध थी बड़ी नम्रता से काका साहब के जिज्ञासु मन को शान्त करने की कोशिश कर रही थी। भारत भाषाविद् श्री सेरेब्रियाकोव दुभाषिया का काम कर रहे थे। काका की जिज्ञासा का अन्त नहीं था। गोर्की के शयन कक्ष में भगवान बुद्ध की मूर्ति देखकर काका बोले, "तॉल्स्ताय जिस प्रकार भारत और हिन्दू धर्म में रुचि रखते थे क्या गोर्की की भी वैसी रुचि थी?"

मैडम ने तुरन्त उत्तर दिया, "जी हां, थी। विशेषकर बौद्धधर्म में। उसको वह बहुत महत्त्व देते थे। बहुत-सा साहित्य उन्होंने इकट्ठा किया था। स्वयं महात्मा बुद्ध की सौ से अधिक मूर्तियां उनके पास थीं। बाद में वे सब उन्होंने कला भवन को प्रदान कर दीं।"

डायरेक्टर ने बताया कि ऐथिकल साइन्स में विशेष रूप से उनकी रुचि थी।

काका साहब बोले, "धर्म के सम्बन्ध में मैंने तॉल्स्ताय के विचार तो पढ़े हैं परन्तु गोर्की के नहीं।"

मैडम बोली, "तॉल्स्ताय के संस्मरणों में गोर्की ने धर्म के संबंध में काफी चर्चा की है। ये संस्मरण 'लिटरेरी पोर्टरेट्स' नामक पुस्तक में संकलित है।"

गम्भीर होते-होते काका साहब सहसा बालोचित शरारत पर उतर आते। मैडम गोर्की की रुचि के बारे में बता रही थी। बोली, "ताश खूब खेलते थे। उनके साथ खेलने में मज़ा आता था।"

काका साहब मुस्कराए, "आपके साथ भी खेलते थे?"

मैडम हँसी, "क्यों नहीं, सबके साथ खेलते थे।"

"और सबके साथ घूमते भी थे?"

"जी हाँ, विशेषकर अपनी पोतियों के साथ घूमना उनको बहुत प्रिय था।"

काका साहब बोले, "जब गोर्की अपनी पोतियों को इतना प्यार करते थे तो वे भी अपने पितामह पर राज्य करती होंगी। दुनिया का अनुभव है कि पौत्र और पौत्रियाँ अपने दादा पर ज़ुल्म करने में आनन्द मानते हैं।"

हम सब हँस पड़े। मैडम बोली, "जी हाँ, हमारा भी अनुभव ऐसा ही है।"

उन्होंने पर्याप्त विश्व-भ्रमण किया पर उनकी गतिविधियों का केन्द्र दिल्ली ही रहा।

इसी अवधि में अनेक दायित्व उन्होंने सँभाले। भारत सरकार ने उन्हें कई काम सौंपे। हमने पीछे देखा सन् 1948 में सरकार ने उन्हें हिन्दी आशुलिपि और 'टंकण-यंत्र-समिति' का अध्यक्ष बनाया था। भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् के वे उपाध्यक्ष नियुक्त किये गये। इस संस्था से जुड़ना उन्हें बार-बार विदेशों में ले गया। वहाँ रहते हुए उनका दायित्व यही था कि वे भारत और दूसरे देशों के सम्बन्धों को दृढ़ करें। इस दायित्व का निर्वाह उन्होंने बड़ी कुशलता से किया।

सन् 1952 में उन्हें एक अग्रणी-साहित्यकार और शिक्षाशास्त्री के रूप में राज्य सभा के लिये मनोनीत किया गया। पूरे बारह वर्ष (अप्रैल 1964 तक) वे संसद सदस्य रहे। इसी अवधि में भारत सरकार ने उन्हें सन् 1953 में पिछड़ी जाति आयोग' का अध्यक्ष नियुक्त किया। आयोग ने दो वर्ष तक भारत भर में भ्रमण करके विषय का अध्ययन किया। सन् 1955 में आयोग ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया पर सरकार ने उसे अस्वीकार कर दिया।

सन् 1960 में सरकारी हिन्दी विश्व कोश के सदस्य बनाये गये। सन् 1967 में बेड़छी में गांधी विद्यापीठ की स्थापना हुई और काका साहब उसके कुलपति मनोनीत किये गये। चार वर्ष तक वे इस पद पर रहे। गांधी तत्त्वज्ञान पर आधारित यह विश्वविद्यालय आदिवासियों की शिक्षा और उनके उत्कर्ष के लिए विशेष प्रयत्न करता है। गुजरात ने सन् 1960 में उन्हें 'गुजरात साहित्य परिषद्' का अध्यक्ष बनाकर गुजराती साहित्य को उनकी देन का अभिनन्दन किया।

काका साहब ने मृत्यु पर्यन्त एक रचनात्मक कार्यकर्ता की तरह अपना जीवन बिताया। भले ही वे प्रवास में हों या घर में, उनकी कारयित्री प्रतिभा सदा सजग रही। देश ने उनकी प्रतिभा को स्वीकार किया। उन्हें यत्किंचित् मान भी दिया। वैसे सिपाही का मान तो उसका कार्य ही है। काका साहब ने जितना कुछ भी किया उस पर कोई भी देश गर्व कर सकता है। यद्यपि हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा से हिन्दी-हिन्दुस्तानी को लेकर मतभेद हो गया था और उनके रास्ते अलग हो गये थे लेकिन राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने सन् 1959 में उन्हें महात्मा गांधी पुरस्कार देकर उनकी सेवाओं पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी। सन् 1951 में काका साहब ने पचहत्तर वर्ष पूरे किये। अहमदाबाद में प्रसिद्ध विद्वान व गुजरात के अध्यक्षता में उनका अभिनन्दन करते हुए उन्हें 'कालेलकर अध्ययन ग्रन्थ' समर्पित किया गया।

सन् 1964 में जब राज्यसभा से निवृत्त हुए तो भारत सरकार ने शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में किये गये योगदान का सम्मान करते हुए उन्हें 'पद्म-विभूषण' से अलंकृत किया। जीवन के अस्सी वर्ष पूर्ण होने पर दिसम्बर 1965

काका साहब को आनन्द आ रहा था। फिर मुस्कराये, "कभी आपको भी डिक्टेट करते थे ?"

मैडम ने तुरन्त दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया, "नियत।" (अर्थात् नहीं)

उनकी इस दृढ़ता पर हम सब खिलखिला पड़े लेकिन दूसरे ही क्षण काका गोर्की और लेनिन के मतभेदों पर चर्चा करने लगे। चलते समय विज़िटर्स बुक में काका साहब ने लिखा, "हमारे लिए इस भवन में आना तीर्थयात्रा के समान है।"

यह यात्रा मेरे लिए आनन्द और ज्ञान दोनों देनेवाली थी। सहज स्नेह और सौजन्य दोनों ओर था और प्रचुर मात्रा में था। गोर्की की पुत्रवधू और संग्रहालय-निदेशक ने जिस आत्मीयता से हमें अपनाया वह ओढ़ा हुआ नहीं हो सकता। काका साहब के प्रति उनकी श्रद्धा का पार नहीं था। काका क्षण में गुरु गम्भीर, क्षण में बालक बन जाते थे। मैंने भी यही उन्हें पास से देखा। उनमें न दम्भ था न ढोंग। है तो बस परिवार के व्यक्ति की-सी सहजता—अपनत्व से पूर्ण। अपनत्व में स्नेह और क्रोध दोनों कोई अर्थ नहीं रखते।

चिर प्रवासी के प्रवासों और अनुभवों का कोई अन्त नहीं होता। दादा धर्माधिकारी के शब्दों में, "अविश्रान्त और अश्रान्त पथिक हैं, निरंतर तीर्थयात्री हैं''' उनकी यात्रा में प्रयोजन और लक्ष्य दोनों हैं। उनका गन्तव्य स्थान परमपद है, जिसका मार्ग अनन्त है।" [संस्कृत के परिव्राजक, पृ० 100]

ऐसे चिर प्रवासी के लिए ही तो यशस्वी कवि उमाशंकर जोशी ने कहा है—

अजाण्यु वही आव्यु गभरू झरणु को तव पद।
प्रवासी! ते ऐने हृदय जगवी। सिंधु रटणा॥

—हे प्रवासी! अनजाना बह कर आया एक मुग्ध झरना तुम्हारे चरणों तक। तुमने उनके हृदय में सिन्धु ही रटना जगा दी।

दायित्व और सम्मान

चिर प्रवासी काका कहीं एक स्थान पर बंध कर नहीं बैठ सकते थे, इसलिए वे किसी दायित्व का वहन करेंगे, यह बहुत कम लोग मानने को तैयार होंगे। यह बात ठीक है। फिर भी काका ने सात-आठ वर्ष तक गुजरात विद्यापीठ को कुशलतापूर्वक चलाया। गांधी जी द्वारा सौंपे गये हिन्दी प्रचार के काम में उन्होंने जीवन खपा दिया, शायद इसलिए और भी घनी में कि उसके साथ भ्रमण का योग था। गांधी स्मारक संग्रहालय के साथ भी जुड़े रहे। जब वह सन् 1951 में दिल्ली आ गया तो काका साहब दिल्ली के हो गये। जीवन के अन्तिम तीस वर्षों में

उन्होंने पर्याप्त विश्व-भ्रमण किया पर उनकी गतिविधियों का केन्द्र दिल्ली ही रहा।

इसी अवधि में अनेक दायित्व उन्होंने सँभाले। भारत सरकार ने उन्हें कई काम सौंपे। हमने पीछे देखा सन् 1948 में सरकार ने उन्हें हिन्दी आशुलिपि और 'टंकण-यन्त्र-समिति' का अध्यक्ष बनाया था। भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् के वे उपाध्यक्ष नियुक्त किये गये। इस संस्था से जुड़ना उन्हें बार-बार विदेशों में ले गया। वहाँ रहते हुए उनका दायित्व यही था कि वे भारत और दूसरे देशों के सम्बन्धों को दृढ़ करें। इस दायित्व का निर्वाह उन्होंने बड़ी कुशलता से किया।

सन् 1952 में उन्हें एक अग्रणी-साहित्यकार और शिक्षाशास्त्री के रूप में राज्य सभा के लिये मनोनीत किया गया। पूरे बारह वर्ष (अप्रैल 1964 तक) वे संसद सदस्य रहे। इसी अवधि में भारत सरकार ने उन्हें सन् 1953 में 'पिछड़ी जाति आयोग' का अध्यक्ष नियुक्त किया। आयोग ने दो वर्ष तक भारत भर में भ्रमण करके विषय का अध्ययन किया। सन् 1955 में आयोग ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया पर सरकार ने उसे अस्वीकार कर दिया।

सन् 1960 में सरकारी हिन्दी विश्व कोष के सदस्य बनाये गये। सन् 1967 में वेड़छी में गाँधी विद्यापीठ की स्थापना हुई और काका साहब उसके कुलपति मनोनीत किये गये। चार वर्ष तक वे इस पद पर रहे। गाँधी तत्त्वज्ञान पर आधारित यह विश्वविद्यालय आदिवासियों की शिक्षा और उनके उत्कर्ष के लिए विशेष प्रयत्न करता है। गुजरात ने सन् 1960 में उन्हें 'गुजरात साहित्य परिषद्' का अध्यक्ष बनाकर गुजराती साहित्य को उनकी देन का अभिनन्दन किया।

काका साहब ने मृत्यु पर्यन्त एक रचनात्मक कार्यकर्ता की तरह अपना जीवन बिताया। भले ही वे प्रवास में हों या घर में, उनकी कारयित्री प्रतिभा सदा सजग रही। देश ने उनकी प्रतिभा को स्वीकार किया। उन्हें यत्किंचित् मान भी दिया। वैसे सिपाही का मान तो उसका कार्य ही है। काका साहब ने जितना कुछ भी किया उस पर कोई भी देश गर्व कर सकता है। यद्यपि हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा से हिन्दी-हिन्दुस्तानी को लेकर मतभेद हो गया था और उनके रास्ते अलग हो गये थे लेकिन राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने सन् 1959 में उन्हें महात्मा गाँधी पुरस्कार देकर उनकी सेवाओं पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी। सन् 1951 में काका साहब ने पचहत्तर वर्ष पूरे किये। अहमदाबाद में प्रसिद्ध विद्वान प. सुखलाल की अध्यक्षता में उनका अभिनन्दन करते हुए उन्हें 'कालेलकर अध्ययन ग्रन्थ' समर्पित किया गया।

सन् 1964 में जब राज्यसभा से निवृत्त हुए तो भारत सरकार ने शिक्षण और साहित्य के क्षेत्र में किये गये योगदान का सम्मान करते हुए उन्हें 'पद्म-विभूषण' से अलंकृत किया। जीवन के अस्सी वर्ष पूर्ण होने पर दिसम्बर 1965

को उनके सम्मान में राष्ट्रपति भवन में आयोजित एक विशेष समारोह में राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने उन्हें 'संस्कृति के परिव्राजक' शीर्षक से अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया।

सन् 1966 में केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने उनकी पुस्तक 'जीवन व्यवस्था' को उस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ गुजराती पुस्तक का पुरस्कार देकर इस बात का अनुमोदन किया कि वह गुजराती के सुश्रेष्ठ साहित्यकार हैं। इसी वर्ष उत्तर प्रदेश की सरकार ने उनकी हिन्दी पुस्तक '[illegible]' को पुरस्कृत कर एक श्रेष्ठ हिन्दी लेखक के रूप में उनका सम्मान किया। एक ही वर्ष में एक मराठी भाषा-भाषी को गुजराती और हिन्दी वाले अपना कहकर कृतार्थता का अनुभव करते रहे।

अगले वर्ष सन् 1967 में सरदार पटेल विश्वविद्यालय ने, सन् 1971 में गुजरात विश्वविद्यालय ने तथा सन् 1974 में काशी विद्यापीठ ने डी. लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की। सन् 1965 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें अपनी उच्चतम पदवी 'साहित्य वाचस्पति' से अलंकृत किया। सन् 1971 में साहित्य अकादेमी ने उन्हें अपना आजीवन महत्तर सदस्य (फैलो) चुनकर सम्मानित किया। उनका जन्मदिन हर वर्ष किसी-न-किसी रूप में मनाया ही जाता था और उनकी पुस्तकों का विमोचन भी होता रहता था। उनके जीवन काल में उनका अन्तिम बार सम्मान किया गया उनके 95वें जन्म दिवस पर उन्हें 'समन्वय के साधक' अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करके। यह ग्रन्थ भारत के तत्कालीन उपराष्ट्रपति न्यायमूर्ति एम. हिदायतुल्ला ने उन्हें समर्पित किया था।

पद्मविभूषण से अलंकृत होने पर उन्होंने कहा था, "गांधी जी जैसे युगपुरुष का अनुयायी होने का सद्भाग्य मुझे मिला। और इसी जीवन में इन आँखों से भारत को स्वतंत्र होते हुए भी देख सका। इसी से मुझे सब कुछ मिल गया। सच कहूँ तो मुझे और किसी अन्य सम्मान की आवश्यकता नहीं थी।"

उन्हें नहीं थी पर हमें थी। उनका सम्मान करके वस्तुतः हम सम्मानित हुए। पुरस्कारों का गौरव बढ़ा। महान की महानता इसी में है।

व्यक्ति, परिवार और समाज

काका साहब व्यक्ति कहाँ रह गये थे। वह समष्टि रूप हो गये थे। ऐसे व्यक्ति का निजी कुछ नहीं होता लेकिन हम जिस अर्थ में व्यक्ति की चर्चा करना चाहते हैं, उनका सम्बन्ध उसके स्वभाव की विशेषता से है। साधक का सब कुछ रूपान्तरित हो जाने के बाद भी ऐसा कुछ बच रहता है जो उसे भीड़ से अलग करता है।

पिछले पृष्ठों में काका साहब की जो मूर्ति उभरकर आती है वह सत्य की तलाश में व्याकुल आकुल एक चिर प्रवासी की है। वह सच्चे अर्थों में साधक थे। प्रतिभासम्पन्न, चलते-फिरते विश्वकोश, सत्यनिष्ठ, संयमी, उद्देश्य के प्रति समर्पित, पूर्वाग्रह मुक्त, प्रेमिल, विनोदप्रिय, संवेदनशील, कवि हृदय, दूसरों को समझने की दृष्टि से सम्पन्न—'वसुधैव कुटुम्बकम' के उपासक, विश्वकवि और राष्ट्रपिता दोनों की विशेषताओं में समन्वय साधा था उन्होंने।

फिर भी, ऐसे मनुष्यों में देवत्व का आरोप किसी भी दृष्टि से न तो वांछनीय है न उपादेय ही। वांछनीय इसलिए नहीं क्योंकि कोई व्यक्ति पूर्ण नहीं होता। उपादेय इसलिए नहीं कि किसी को देवता बना देने के बाद हम उन मूल्यों को भुला देते हैं, जिनके लिए उसने संघर्ष किया था। काका साहब मनुष्य थे, गुणावगुण सम्पन्न। सारी विशेषताओं के बावजूद उनकी तर्कपटुता गलतफहमी और बौद्धिक घुटन पैदा कर देती थी—ऐसा बहुतों ने अनुभव किया है। कभी-कभी वे अपनी बात पर हठधर्मिता की सीमा तक अड़ जाते थे। 'हठ' अपने में अवगुण नहीं है पर एक सीमा तक ही। ऐसे एक-दो प्रसंग मुझे याद है। सन् 1956 की घटना है। मैं आकाशवाणी के नाटक विभाग में था। काका साहब को तब तक एक वार्ता प्रसारित करनी थी। उसमें कुछ पंक्तियाँ ऐसी आ गयी थी जो पाकिस्तान को अप्रिय लग सकती थी और भारत सरकार की यह घोषित नीति रही है कि अपने पड़ोसी देश को चोट पहुँचे, ऐसी कोई बात हमें प्रसारित नहीं ही करनी है।

काका साहब कोई साधारण वक्ता नहीं थे। उनको वे शब्द काटने को विवश नहीं किया जा सकता था। अधिकारियों ने परस्पर परामर्श करके मुझसे कहा कि आप तो उनसे परिचित हैं। प्रार्थना कीजिए कि वे ये शब्द निकाल दें।

मैंने निवेदन किया। उन्होंने सुना, दृष्टि उठायी, क्षण भर पहले की प्रेमिल मूर्ति एकाएक कठोर हो आयी थी। उतने ही दृढ़ (कठोर) शब्दों में उन्होंने कहा, "मैं ऐसा नहीं करूँगा।"

मैंने फिर विनम्र शब्दों में निवेदन किया कि ऐसा करने से वार्ता के तेवर में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा लेकिन उनकी भंगिमा नहीं पिघली। तब हमने निश्चय किया कि काका साहब इतने बड़े हैं कि यदि कोई कूटनीतिक समस्या उत्पन्न हुई तो वे उसका दायित्व अपने ऊपर ले लेंगे।

हो सकता है, इस प्रवृत्ति के कारण उनके सभी साथी उनके सही स्वरूप को न समझ पायें पर हम मानवी मर्यादा को समझ कर ही हमें किसी का मूल्यांकन करना चाहिए। काका साहब का गृहस्थ जीवन बहुत ही जल्दी समाप्त हो गया था। जब वह चौवालीस वर्ष के ही थे तभी सन् 1929 में उनकी पत्नी का राजयक्ष्मा के कारण देहावसान हो गया। दो पुत्रों की यशस्वी माँ तब मात्र चालीस वर्ष की थी। उन दोनों के प्रारम्भिक जीवन की विधि-निषेधों के कारण संकोच

और प्यार की कहानी पीछे आ चुकी है। हम यह भी देख चुके हैं कि पति की मान्यताओं को स्वीकार करके कैसे एक रूप होने की चेष्टा की थी काकी ने। काका साहब को जब कारावास का दण्ड मिला तो वह पहले ही जेल की गाड़ी में जा बैठी थी। आश्रम में रहते हुए वहाँ के जीवन को आत्मसात् करने की भी कोशिश उन्होंने की थी। सफल भी हुई थीं लेकिन उनके अपने संस्कार थे और उन्हीं पर आधारित अपने विचारों पर दृढ़ रहना उन्हें आता था। गाँधी जी के सामने भी वे कभी नहीं झिझकी। उनके पुत्र बाल ने अपने सस्मरणों में माँ के प्रति पूरी श्रद्धा और पूरा प्यार प्रगट करते हुए लिखा है—"मुझे अब भी याद है कि माँ पिताजी के साथ किस प्रकार तर्क-वितर्क किया करती थी। उन्हें सुनकर लगता था कि वह किसी कट्टर हिन्दू परिवार की स्त्री हैं। पिताजी को अपने पक्ष के लिए गाँधी जी की सहायता लेनी पड़ती थी'''इन विचार-विनिमयों के फलस्वरूप आखिर माँ इस बात से सहमत हुई कि अस्पृश्यता निवारण करना ब्राह्मणों का कर्त्तव्य है।" [समन्वय के साधक, पृ० 144]

मुसलमानों के साथ खानदान को लेकर भी वही हुआ पर अन्तत: एक दिन वह भी आया जब उन्होंने एक हरिजन बालक को गोद लिया। और वह तथा इमाम साहब की बेटी अमीना बेन रसोई बनाने में उनकी सहायता करने लगे।

पति-पत्नी में विचार भेद था और काका साहब मानते थे कि पति-पत्नी में जब तक विचारों की समानता न हो तब तक उन्हें अलग रहना चाहिए। तब काकी माँ के घर जाकर रहने लगी थीं। काका साहब ने, जैसा हमने पीछे देखा है, इस बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है, "मेरे आश्रम-जीवन के साथ पूर्ण रूप से एक होकर काकी ने मुझे और मेरे साथियों को संतोष दिया था किन्तु आश्रम-जीवन उनका स्वयं का आदर्श नहीं था इसलिए मैं उसे अनेक बार मायके जाने देता।"

काकी को अन्ततः राजयक्ष्मा रोग हो गया। वे तब कई वर्ष पति से अलग माँ के पास अकेली रही। इस अकेले रहने में विचार भेद का भी योग रहा होगा क्योंकि श्रीमती ज्योति थानवी ने अपने लेख में उनके चरित्र का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि इन बातों का उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर हुआ। उन्हें राजरोग हो गया। वे तीन साल पति से अलग रही, पर जब उन्हें अनुभव हुआ कि अब शरीर ज्यादा नहीं चल सकेगा तब उन्होंने गाँधी जी को एक पत्र लिखकर आश्रम में ठहरने देने की अनुमति माँगी। अनुमति मिलते ही अपने बड़े पुत्र सतीश के साथ आश्रम में आयीं। काका साहब ने उनसे बातचीत की तो वे अत्यन्त प्रसन्न हो उठीं। कहने लगीं, "काका साहब ने मुझसे बातचीत की। पतिव्रता नारी को अपने पति के दर्शन और स्नेह के अतिरिक्त चाहिए भी क्या?"

[समन्वय के साधक, पृ० 103]

पति के प्रति पूर्णतया अनुरक्त होकर भी स्वभाव में उनके दबंगपन था। सन् 1920 में जब विद्रोहात्मक साहित्य बेचने पर उन्हें गिरफ्तार किया गया और फिर शाम को ही चेतावनी देकर छोड़ दिया गया तब उन्होंने कहा था, "चेतावनी, कैसी चेतावनी ! जैसे कि हम उनकी चेतावनी पर ध्यान ही देंगे।"

काका साहब के दोनों पुत्र सतीश और बाल यदा कदा मतभेद के बावजूद अपने माता-पिता के प्रति बहुत कृतज्ञ रहे हैं और उनकी महानता के प्रति नतमस्तक भी। वे दोनों गांधी जी की दांडी यात्रा में सम्मिलित हुए थे। उन्हें भी बन्दी बनाकर साबरमती जेल में एक अलग अहाते में रखा गया था। एक दिन सुपरिटेंडेंट के दफ्तर का क्लर्क उन्हें बुलाकर दफ्तर ले गया और साथ के प्रधालय के कमरे में जाने को कहा। सतीश ने लिखा है, "हम उसमें दाखिल हुए और वहाँ हमने किसको देखा। एक व्यक्ति पुस्तकों में लीन थे। मात्र घटनावश किन्तु सत्य ही वह थे काका साहब। मुदित नेत्रों से हम दोनों को उन्होंने गले लगाया और भावविभोर स्वर में कहा, मैं तुम दोनों को कैदियों के इन धारीदार वस्त्रों में देख लेना चाहता था। मुझे गर्व है मेरे बच्चो और मुझे बड़ी खुशी है कि तुम दोनों अब गांधी जी की सेना के नियमित सिपाही बन गय हो।"

और यह गर्व उन्हें जीवन के अन्तिम क्षण तक रहा। दोनों पुत्रों ने उच्च शिक्षा पायी। सतीश बीस वर्ष तक भारत सरकार के विदेश विभाग में काम करके सेवा-निवृत हुए। बाल, भारत सरकार के 'डायरेक्टर जनरल ऑफ टेक्निकल डेवलपमेंट' के उच्च पद पर काम करते हुए सेवा-निवृत हुए। लेकिन सुख-दुख का तो चोली-दामन का साथ है। उनासी वर्ष की आयु में काका को एक त्रासद घटना भी अपनी आँखों से देखनी पड़ी। उनके छोटे पुत्र बाल का अचानक हृदय की गति रुक जाने से 26 मई, 1976 को देहान्त हो गया। उस समय अपने स्थितप्रज्ञ रूप का उन्होंने किस प्रकार परिचय दिया, उसका भी इन पंक्तियों का लेखक साक्षी है।

वे बराबर शान्त और सुस्थिर बने रहे। दर्द न हुआ हो ऐसा नहीं, परन्तु उसके प्रथम आघात को सहकर उन्होंने तुरन्त रुद्र के शिवरूप को देखा और शान्त हो गये। कोई और व्यक्ति होता तो न केवल वह कातर हो उठता बल्कि पूरे वातावरण को तरल विगलित करके शोक की विभीषिका को और उग्र कर देता।

यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है। सन् 1960 में बम्बई सरकार ने काका साहब की जिस पुस्तक को उस वर्ष का राज्य पुरस्कार दिया था वह उन पत्रों का संग्रह थी, जो उन्होंने अपनी पुत्रवधू चन्दन को लिखे थे। उस पुस्तक का नाम था 'चि० चन्दन के नाम'। चन्दन उनकी परम प्रिय और मेधावी छात्रा थी। बाद में काका साहब के बड़े बेटे सतीश के साथ उसका परिणय बन्धन हुआ। यह विवाह अंतर्जातीय, अंतर्प्रान्तीय और अतर्धर्मीय था। तेईस वर्ष के अत्यन्त सफल और सुखमय दाम्पत्य जीवन के बाद सन् 1963 में वाशिंगटन (अमेरिका) में चन्दन का

दुखद अवसान हुआ। इसी प्रसंग के नाना विषयों पर पूछे गये प्रश्नों का काका साहब ने जिस सुन्दर भाव में उत्तर दिया, वह सराहनीय तो है ही, पठित करने-लायक भी है।

अपने दोस्त-मित्रों के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए उन्होंने जो कुछ हो सकता था किया। [illegible] की पत्नी का जब दिल्ली में अचानक देहान्त हो गया तब काका साहब अपनी अवस्था और अपना काम भूलकर दो छोटे-छोटे बच्चों की देखभाल के लिए काफी समय उनके घर जाकर रहे थे।

बच्चों के साथ बच्चा बनना काका साहब को आता था। शास्त्रों में लिखा है कि 'ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'—विद्वानों को अपनी विद्वत्ता भूल कर बालक समान रहना चाहिए। लेकिन उनकी यह करुणा और ममता किसी सीमित परिवार के लिए नहीं थी। समाज ही उनका परिवार था। उनके अपनी बेटी नहीं थी। सन् 1939-40 में कुमारी रेहाना बहन तैयब जी और कुमारी सरोजनी बहन नानावटी उनकी पुत्री बनकर उनके पास आकर रहने लगीं। सरोजनी बहन तो उनकी निजी सचिव बन गयी थीं। कुमारी रेहाना बहन की मृत्यु 17 मई, 1975 को हो गयी थी लेकिन सरोजनी बहन अभी तक काका साहब की मशाल को प्रज्ज्वलित रखे हुए हैं। लेकिन इनके अतिरिक्त देश विदेश में उनकी जो असंख्य पुत्र-पुत्रियाँ अवस्थित और कार्यरत हैं, वे उस भावना की प्रतीक हैं जो हमारी संस्कृति की रीढ़ है, 'वसुधैव कुटुम्बकम्'।

समन्वय और अनन्त की यात्रा

काका साहब ने एक क्रान्तिकारी के रूप में अपना सार्वजनिक जीवन आरम्भ किया और अन्त किया समन्वय के साधक के रूप में। इसके मूल में जाना होगा। चिर-प्रवासी काका साहब ने केवल सारे भारत का ही भ्रमण नहीं किया बल्कि सारा विश्व खूंद डाला। श्री उमाशंकर जोशी ने बहुत ठीक लिखा है, "जैसे एक तितली एक फूल से उड़कर दूसरे पर बैठती है और वनस्पति के फूलने-फलने में सहायक होती है वैसे परिव्राजक काका साहब एक अदृष्ट सेवा तो करते ही रहे, सम्पूर्ण परिभ्रमण में उनकी एकात्म दृष्टि पुष्ट होती रही। और जहाँ-जहाँ वह गये वहाँ-वहाँ उस दृष्टि का प्रभाव भी पड़ता रहा…हिमालय के प्रोत्साहक एकान्त में घूमते-घूमते उन्होंने भारतीय संस्कृति धारा की गति उसका लक्ष्य उसका वैविध्य होते पर भी एकात्म स्वरूप चित्त में धारण किया।…भारत स्वतंत्र होने पर उन्होंने विदेशों में भी चारों ओर यात्रा की। हिमालय में जो पाया था, वह अब

और भी परिपुष्ट हुआ। भारत की एकात्मता का दर्शन वास्तव में मानव जाति की एकात्मता के दर्शन के रूप में निखर उठा। मध्यकालीन गुजरात के जीवन के विषय में लिखते हुए "पुराणो मा गुजरात' (1946) में 'सर्वधर्म समभाव' के साथ मैंने 'सर्वधर्म ममभाव' का निर्देश किया।" काका साहब को सर्वधर्म समभाव शब्द और उनकी भावना पसन्द आयी। उन्होंने गाँधी जी से भी उसका उल्लेख किया 'हर एक धर्म में बहुत कुछ अच्छा है और जो अच्छा है, वह मेरा है।" आज के समय में जब सभी धर्म मुँह छिपाये हुए रहे, ऐसी संसार की स्थिति है, धर्म शब्द की एलर्जी-सी दिखाई दे रही है, और जब साथ-साथ यह भी प्रतीत हो रही है कि धर्म ही हमारा एकमात्र चारा है तब यह या वह धर्म न देखते हुए, धर्म-तत्त्व का स्पंदन जिसमें हो, वैसे समन्वय धर्म की आवश्यकता और भी तीव्र रूप से अनिवार्य-सी लगती है। संभव है कि जैसे एक देश-परायणता के बजाए समग्र जगत परायणता अनिवार्य-सी हो रही है, कोई एक या दूसरे पारस्परिक धर्म के बजाय एक नया समन्वय धर्म अनिवार्य-सा हो रहा है।"

[समन्वय योग, समन्वय के साधक, पृ० 109]

इसी अनिवार्यता को काका साहब ने अनुभव किया और उसे सम्भव बनाने के लिए 10 जुलाई, 1967 को उन्होंने विश्व समन्वय संघ की स्थापना की। उन्होंने कहा, "जीवन व्यक्ति का हो, राष्ट्र का हो, या समस्त मानव जाति का, संघर्ष टालकर उत्कर्ष—सिद्धिप्रद समन्वय ही उसे समर्थ और कृतार्थ करेगा। संस्कृति का पूर्वार्ध है संघर्ष और सहयोग। उत्तरार्ध है समन्वय।"

स्वाधीनता से पूर्व 1941-42 में जब हिन्दी या हिन्दुस्तानी का संघर्ष तीव्र हो उठा था तब भी उन्होंने लिखा था, "मैंने अन्त में तय किया कि हिन्दुस्तानी प्रचार के नाम से हिन्दी-उर्दू शैली का मिश्रण और नागरी उर्दू लिपि का प्रचार इन दोनों बातों को मैं इन्कार भी नहीं करूंगा और प्रचार भी नहीं करूंगा किन्तु उसके पीछे रही हुई महान नीति 'सर्वधर्म समभाव' को अपना लूंगा और सारे देश में घूम-घूम कर 'सर्वधर्म समभाव' की जगह पर 'सर्वधर्म ममभाव' का प्रचार करूंगा।"

विश्व समन्वय संघ की स्थापना से पूर्व उनकी मानसिकता रही थी। इसलिए उन्होंने सन् 1964 में बिहार के समन्वय आश्रम में रुचि लेनी आरम्भ की और अगले वर्ष उसके न्यास-मंडल के अध्यक्ष बन गये। इसी वर्ष वहाँ समन्वय पर्व महोत्सव भी मनाया गया।

काका साहब कोई भी कार्य गाँधी जी की स्वीकृति के बिना या उनसे विचार-विनिमय किये बिना नहीं करते थे। गाँधी जी तो अब थे नहीं पर उनके दिनों में उनके साथ घुल-मिलकर उन्होंने गाँधी-नीति को आत्मसात कर लिया था। इसीलिए संघ की स्थापना के समय उन्होंने लिखा था, "महात्मा गाँधी की सर्वोदय आखिरी संस्था का असली उद्देश्य संस्कृति समन्वय ही है। मुझे हिन्दुस्तान की

संघ के कार्य संचालन का भार उन पर ही डाल दिया गया था। कार्य के महत्व को ध्यान में रखकर उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। न आयु का ध्यान रखा न स्वास्थ्य की प्रतिकूल परिस्थिति का। वे अस्सी वर्ष की आयु तक दस-बारह घंटे रोज काम करते रहे पर वर्षों का भार तो कन्धों पर आता ही है। उन्होंने धीरे धीरे पद त्यागना शुरू किया। दूसरों के लिए जगह करने के उद्देश्य से 'अखिल भारतीय बुनियादी तालीम बोर्ड', 'गांधी विचार परिषद्', 'गांधी स्मृति मण्डपम्' आदि संस्थाओं के महत्वपूर्ण पदों से निवृत्त होना शुरू कर दिया। सन् 1976 में गांधी हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का अध्यक्ष पद कुमारी सरोज नानावटी को सौंप दिया और 'मंगल प्रभात' का सम्पादक बनाया श्री अमृतलाल नानावटी को।

सुनने की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो रही थी। हँसकर कहते, "आप मेरे बारे में क्या कहते है, इसकी चिन्ता किये बिना मैं अपनी बात कह सकता हूँ, पर निन्दा सुनने के दोष से भी बच जाता हूँ।" जो भी मिलने आता उसके लिए स्लेट-पेंसिल रखी रहती। अच्छा नहीं लगता। मनुष्य को न पहचानने की प्रवृत्ति बड़ी पुरानी थी। अब वह बढ़ती जा रही थी। कोई आता, वे न पहचानते तो सरोज बहन को पुकारते, कहते, 'इन्हें यह कहानी सुना दो।'

उन्हीं के शब्दों में यह कहानी इस प्रकार है—

"बहुत पुरानी बात है। मेरे सबसे बड़े भाई की दूसरी लड़की की शादी थी। मेरे बड़े भाई तिवृत्तिमार्गी थे। उन्होंने मुझ से कहा— तुम्हीं कर दो न अपनी भतीजी का कन्यादान।

हम मंडप में जा बैठे। गंभीर चेहरा करके कन्यादान के मन्त्र बोल गये। विवाह सम्पन्न हुआ।

शादी के बाद एक महीना हुआ होगा। मैं कहीं जा रहा था। दामाद महाशय सामने से आ रहे थे। उन्होंने सिर थोड़ा झुकाकर मुझे नमस्कार किया। मैं उन्हें बिलकुल पहचान न सका'''नमस्कार करता है तो हमें भी नमस्कार करना चाहिए, ऐसा सोचकर उसे कोरा नमस्कार किया और आगे

चला'''दामाद महाशय को बहुत बुरा लगा होगा। स्वागत का एक शब्द भी नहीं, आत्मीयता का स्मित भी चेहरे पर नहीं। श्वसुर महाशय यूं ही आगे चले गये।

अपने घर जाकर बड़ा धुआं-पुआं किया—ऐसे कैसे श्वसुर अभी तो अपने हाथों कन्यादान किया था ' आज मुझे पहचानने से भी इन्कार करते है।

सारी शिकायत मेरे कानों तक आ पहुँची। मैं शरमिन्दा हुआ। दामाद महाशय और समधी लोगों को कहला भेजा कि मुझसे ग़लती हो गयी। दामाद महाशय को मैं पहचान न सका इसलिए मैंने उनसे कोई बात न की। इस पर विश्वास रखें और क्षमा करें लेकिन तहेदिल से माफी माँगना मेरे लिए आसान है चेहरे भूल जाने की कमज़ोरी कैसे दूर करूँ ''जितनी दफे गलती होगी माफी माँग लूँगा लेकिन ग़लती नहीं होगी, इसका विश्वास कहाँ से लाऊँ। सुना कि मेरी बात सुनकर समधी लोगों में भी बड़ी हँसाहँसी हुई और सारा किस्सा हमारी जाति के लोगों में फैल गया।"

[गांधी युग के जलते चिराग़, पृ० 199]

एक बच्ची को लिखे अपने 26 अगस्त, 1974 के पत्र में उन्होंने लिखा था,

"मेरा स्वास्थ्य अच्छा है पर स्मरणशक्ति कमजोर हो रही है। बहुत बातें भूल जाता हूँ। पुराने परिचित आदमी भी पराये बन जाते हैं। इसका इलाज क्या। बुढ़ापा कोई रोग नहीं कि दवा हो सके। कान से सुनाई नहीं देता, न पत्र पढ़ सकता हूँ।" [समन्वय के साधक, पृ० 306]

शुरू-शुरू में तो उन्होंने संस्थाओं से इसलिए मुक्ति चाही थी कि वे एक विश्वधर्म और एक विश्व राष्ट्रीयता विकसित करने के उद्देश्य से विश्व समन्वय संघ के लिए ही काम करेंगे। उनकी बाद की जापान यात्राएँ (1967, 1968 और 1972) भी इसी उद्देश्य से हुई थी। दस वर्ष तक उस हार्दिक एकता की तलाश में वे निरन्तर प्रयत्नशील रहे। लेकिन सन् 1978 में उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। तिरानवे वर्ष के हो रहे थे। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि उम्र के दसवें दशक में भी वे इतने सक्रिय रहे। यह भी तब जब वे एक समय राजरोग से पीड़ित रह चुके थे।

अपने अच्छे स्वास्थ्य और दीर्घायु का रहस्य समझाते हुए वे विनोद में कहा करते थे, "मैंने मृत्यु का चिन्तन तो काफी किया है पर मृत्यु की चिन्ता मैं नहीं करता। अब ये दो मेरे पीछे पड़े हैं, मुझे पकड़ना चाहते हैं: एक है बुढ़ापा, दूसरी है मृत्यु। ये दोनों काफ़ी थके हुए हैं पर पीछे तो पड़े ही रहते हैं। मुझे लेने कहीं पहुँच जाते हैं और लोगों से पूछते हैं कि फलाँ आदमी कहाँ है? लोग कहते हैं अभी कल यहाँ थे लेकिन पता नहीं यहाँ से कहाँ चले गये। दरियाफ़्त करके मेरा पता पाकर

नये स्थान पर हांफते-दौड़ते मुझे लेने पहुंचते हैं। वहां पर भी उन्हें वही अनुभव होता है। लोग कहते हैं, "आपने थोड़ी-सी देरी की। अभी यहीं पर थे लेकिन पता नहीं, यहां से कहां गये।"

आखिर एक दिन मृत्यु को उनका सही पता मालूम हो गया। उसके पश्चात सुनाई पड़ने लगे। पर मृत्यु तो जीवन का ही एक नाम है। गांधी जी का छियालवें वर्षीय अहिंसक योद्धा, प्रकृति, पुष्पों और नक्षत्रों का प्रेमी, एक मनुष्य, एक राष्ट्र का स्वप्नद्रष्टा जिसने क्रांति, कविता और कर्म में योग साधा, पर्यटन को गरिमा प्रदान की, राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिए जीवन होम दिया क्योंकि समन्वय की सन्देश

फिर मुझे पीछे छोड़ गये। कोई चिन्ता नहीं, आ रहा हूँ मैं भी।"

मनीश कालेलकर ने जब उनसे कहा, काका मैं अब अकेला हो गया तो उन्होंने उत्तर दिया पागल। अकेला तो मैं हो गया। सारी दुनिया में मुझे 'जीवत' कहकर बुलाने वाला सिर्फ एक आदमी था, वह अब चला गया।

इस प्रकार एक अद्भुत जीवन की अद्भुत कहानी धरती की सीमा पार करके आकाश की सीमा में प्रवेश कर गयी। एक अद्भुत जीवन अमर हो गया।

साहित्य-साधना

विपुल साहित्य की रचना की है काका साहब ने। बहु भाषाविद् काका साहब ने विशेष रूप से तीन भाषाओं में लिखा है मराठी, गुजराती और हिन्दी। मराठी उनकी मातृभाषा थी जिसे वे माँ की तरह प्यार करते थे। सारा जीवन गुजराती और हिन्दी को देकर भी उनके सपनों की भाषा मराठी ही रही। गुजराती को उन्होंने इस तरह आत्मसात कर लिया कि 'सवाई गुजराती' बन गये थे। और हिन्दी तो सबकी थी ही। उन्होंने एक बार रवीन्द्र केलेकर से कहा था :

' मेरे लिए सभी भाषाएँ एक-सी प्रिय और पूज्य हैं। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारी भी भूमिका यही रहे। तुम कोंकणी की सेवा करते रहो, मराठी की भी करो। हिन्दी तो हम सबकी है। पुर्तगाली तुम जानते हो। इस भाषा का सारा बढ़िया साहित्य हिन्दी-मराठी में ले आओ। इस बहु-भाषिक देश में हर एक को बहु-भाषिक बनना है। सर्वधर्म समभाव की तरह सर्वभाषा समभाव—समभाव ही नहीं, ममभाव हमारी नीति होनी चाहिए।"

फिर भी राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी क्यों, अंग्रेजी क्यों नहीं, इसका विवेचन करते हुए वे कहते हैं "अंग्रेजी जाननेवाले लोग अपनी एक अलग जाति बनाते हैं, दूसरी भाषाएँ सीखते ही नहीं। अपनी-अपनी जन-भाषा तो बचपन से ही सीखनी पड़ी, नहीं तो उसे भी नहीं सीखते।"

हिन्दी को स्वीकार करने के दो प्रमुख कारण मानते थे वे। एक तो उसकी लिपि नागरी है जो संस्कृत की लिपि होने के कारण भारत में सर्वत्र फैली हुई है। दूसरा कारण यह है कि सभी प्रान्तों के सन्तों ने उसे अपनाया है। उन्होंने लिखा है, "चीन, जापान, बर्मा, श्रीलंका, इंडोनेशिया आदि देशों के साथ हमारा सम्पर्क आज अंग्रेजी के द्वारा बढ़ रहा है। इसमें सहूलियत चाहे जितनी हो, एशिया के लिए यह शाप रूप ही है। एशियाई संस्कृति जैसी चीज पर अंग्रेजी के कारण हमारा विश्वास ही नहीं बैठता।"

21 अगस्त 1981 को बस एक साँस में दूसरे लोक की यात्रा की।

कई दिन से तीव्र ज्वर आ रहा था। 21 अगस्त को सबेरे से ही प्यास महसूस होने लगी। उनकी सचिव सरोजबेन नानावटी ने लिखा है—'करीब दस बजे पूज्यश्री का चेहरा चमक उठा। उन्होंने आँखें खोलीं। आँखें आनन्द से खुली हुईं। उसकी प्रसन्नता व आनन्द अपार। चेहरे पर स्पष्ट दिख रहा था कि कोई दिव्य दर्शन पा रहे थे। पिछले इन वर्षों के सान्निध्य में मैंने कभी भी ऐसा दिव्यभाव पूज्यश्री के वदन पर नहीं देखा। उसका आनन्द हम सबको छू गया। करीब दो तीन मिनट तक यह चला। फिर प्रसन्नता का एक श्वास छोड़कर पूज्यश्री ने आँखें बन्द कर आराम लिया।

कुछ देर में आँखें खोल कर हम उपस्थित व्यक्तियों की तरफ, हरेक की तरफ देखकर मुस्कराये, अपने आशीर्वाद दिये मानो। पौने तीन बजे दोपहर बाद एक हल्की-सी हिचकी के साथ पूज्यश्री ने अपनी देह इतनी आसानी से छोड़ दी—हमको मालूम भी न हो सका।

"भगवान ने दर्शन देकर अपने बालक को अपनी गोद में उठा लिया।"

[मंगल प्रभात—सितम्बर, 1981, पृ० 18]

उनके बड़े बेटे सतीश ने लिखा है, "अगले दिन (21 अगस्त) लगा जैसे वे गांधी जी के दर्शन कर रहे हैं और वे (गांधी जी) पिता जी को बुला रहे हैं। उसके बाद वे धीरे-धीरे शान्त होने लगे। तीसरे पहर तक पक्षी उड़ चुका था।"

काका ने स्वयं लिखा है, "मृत्यु अर्थात् घड़ी भर का आराम, मृत्यु अर्थात् नाटक के दो अंकों के मध्यावकाश की यवनिका, मृत्यु अर्थात् वाणी के अस्खलित प्रवाह में आनेवाले विराम चिह्न···मृत्यु तो पुनर्जन्म के लिए ही है···मृत्यु अग्नि नहीं है बल्कि तेजस्वी रत्नमणि है, जिसे छूने में कोई खतरा नहीं।"

जब उनका पार्थिव शरीर अन्तिम यात्रा के लिए 'सन्निधि' में रखा हुआ था तब आचार्य कृपालानी उसके पास खड़े तरल नेत्रों से देखते हुए बार-बार हाथ जोड़ रहे थे मानो अपने सहपाठी, सहकर्मी और सहयोगी से कह रहे हों, "एक बार

फिर मुझे पीछे छोड़ गये। कोई चिन्ता नहीं, आ रहा हूँ मैं भी।"

मनीश कालेलकर ने जब उनसे कहा, काका मैं अब अकेला हो गया तो उन्होंने उत्तर दिया पागल। अकेला तो मैं हो गया। सारी दुनिया में मुझे 'जीवन' कहकर बुलाने वाला सिर्फ एक आदमी था, वह अब चला गया।

इस प्रकार एक अद्भुत जीवन की अद्भुत कहानी धरती की सीमा पार करके आकाश की सीमा में प्रवेश कर गयी। एक अद्भुत जीवन अमर हो गया।

साहित्य-साधना

विपुल साहित्य की रचना की है काका साहब ने। बहु भाषाविद् काका साहब ने विशेष रूप से तीन भाषाओं में लिखा है मराठी, गुजराती और हिन्दी। मराठी उनकी मातृभाषा थी जिसे वे माँ की तरह प्यार करते थे। सारा जीवन गुजराती और हिन्दी को देकर भी उनके सपनों की भाषा मराठी ही रही। गुजराती को उन्होंने इस तरह आत्मसात कर लिया कि 'सवाई गुजराती' बन गये थे। और हिन्दी तो सबकी थी ही। उन्होंने एक बार रवीन्द्र केलेकर से कहा था :

> 'मेरे लिए सभी भाषाएँ एक-सी प्रिय और पूज्य हैं। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारी भी भूमिका यही रहे। तुम कोंकणी की सेवा करते रहो, मराठी की भी करो। हिन्दी तो हम सबकी है। पुर्तगाली तुम जानते हो। इस भाषा का सारा बढ़िया साहित्य हिन्दी-मराठी में ले आओ। इस बहु-भाषिक देश में हर एक को बहु-भाषिक बनना है। सर्वधर्म समभाव की तरह सर्वभाषा समभाव—समभाव ही नहीं, ममभाव हमारी नीति होनी चाहिए।"

फिर भी राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी क्यों, अंग्रेजी क्यों नहीं, इसका विवेचन करते हुए वे कहते हैं "अंग्रेजी जाननेवाले लोग अपनी एक अलग जाति बनाते हैं दूसरी भाषाएँ सीखते ही नहीं। अपनी-अपनी जन-भाषा तो बचपन से ही सीखनी पड़ी, नहीं तो उसे भी नहीं सीखते।"

हिन्दी को स्वीकार करने के दो प्रमुख कारण मानते थे वे। एक तो उसकी लिपि नागरी है जो संस्कृत की लिपि होने के कारण भारत में सर्वत्र फैली हुई है। दूसरा कारण यह है कि सभी प्रान्तों के सन्तों ने इसे अपनाया है। उन्होंने लिखा है "चीन, जापान, बर्मा, श्रीलंका, इंडोनेशिया आदि देशों के साथ हमारा सम्पर्क आज अंग्रेजी के द्वारा बढ़ रहा है। इससे अंग्रेजी चाहे कितनी हो, एशिया के लिए वह भार रूप ही है। एशियाई संस्कृति [illegible] पर अंग्रेजी के कारण हमारा विकास ही नहीं होता।'

"हिन्दी ही नहीं, गोवा के लिए कोंकणी का समर्थन करते हुए उन्होंने यही दृष्टि सामने रखी थी। उनका गोवा से गहरा सम्बन्ध था। उनके पुरखे गोवा के हैं। उनके घर की बहुएँ अगर कोंकणी ही बोलती थीं पर उनका समर्थन इसीलिए नहीं था, वह इसलिए था कि उन्होंने समझ लिया था कि दो बिलकुल स्वतन्त्र दुनिया में रहनेवाले गोवा के ईसाइयों और हिन्दुओं को जोड़नेवाली यही एक कड़ी है···गोवा के ईसाई लगभग चार शताब्दियों में भारत के सांस्कृतिक प्रवाह से अलग कर दिये गये हैं। उनमें यदि राष्ट्रीय जागृति लानी हो और उन्हें यदि भारत के सांस्कृतिक प्रवाह में लाना हो तो कोंकणी ही एकमात्र प्रभावी साधन बन सकती है।"

[समन्वय के साधक, रवीन्द्र केलेकर, पृ॰ 69]

बहुत गहरे डूबे थे काका साहब। किनारे पर वे नहीं रह गये थे। हिन्दी के माध्यम से वे 'एकात्म' साधना चाहते थे। समन्वय की भाषा हिन्दी ही हो सकती थी इसलिए जुड़े थे वे हिन्दी से या उन्हीं के शब्दों को कहें इसीलिए 'हिन्दी उनसे चिपक गयी थी।'

उनकी साहित्य-साधना का लेखा-जोखा करते हुए उनके पाँच रूप सामने आते हैं। उनके प्रचारक रूप की बहुत चर्चा हो चुकी है। दूसरा रूप है पत्रकार का। तीसरा पत्र-लेखक का, चौथा टीकाकार का और पाँचवाँ सर्जक का।

उन्होंने कई भाषाओं की कई पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया। उन्हीं में 'नवजीवन' (गुजराती) और 'यंग इंडिया' भी रहे हैं लेकिन हमारा सरोकार यहाँ हिन्दी पत्रिकाओं से है। उनमें प्रमुख है तीन पत्रिकाएँ—'सर्वोदय', 'सबकी बोली' और 'मंगल प्रभात'। पिछले परिच्छेदों में इनकी चर्चा की जा चुकी है। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्रवासी के रूप में उन्होंने जो कुछ पाया था उसे दूसरों को देने में वे सदा अतिरिक्त उदार रहे। दादा धर्माधिकारी के शब्दों में कहा जा सकता है, "उनके पास ज्ञान का अखण्डित स्रोत था। कामधेनु की तरह उनकी वाग्धारा अप्रतिहत रूप से प्रवाहित होती रहती।" (समन्वय के साधक, पृ॰ 24)

तभी तो 'मंगल प्रभात' में एक ही व्यक्ति द्वारा सर्जित इतनी विपुल, इतनी विविध सामग्री उपलब्ध हो सकी। उन्होंने इस पत्रिका का पच्चीस वर्ष तक सम्पादन किया। उनके अंकों में प्रायः उन्हीं के लेख रहते थे।

सम्पादन की उनकी अपनी दृष्टि थी और उस दृष्टि के पीछे उनका विपुल अनुभव था। इन पंक्तियों के लेखक ने गांधी जी के उन लेखों का एक संग्रह संकलित-सम्पादित किया था जो उन्होंने समय-समय पर अपने सम्पर्क में आने-वाले समकालीन व्यक्तियों के बारे में लिखे थे। उस पुस्तक की समीक्षा करते हुए उन्होंने सम्पादन को 'ढीला-ढाला' कहा था। उसका कारण था कि उसमें एक दो ऐसे व्यक्तियों के बारे में लेख आ गये थे जो ऐसी पुस्तक में स्थान पाने के अधिकारी

नहीं दे। गांधी जी ने तत्कालीन परिस्थितियों के दबाव के कारण लिखा जरूर था पर सम्पादक को ऐसे लेखों को देने में जो हानि हो सकती है उस पर विचार करना चाहिए था।

काका साहब ने जिन पत्रिकाओं का सम्पादन किया वे विशिष्ट विचारधारा की पत्रिकाएँ थीं। उनके सामने एक आदर्श था। उनमें न समाचार रहते थे न विज्ञापन। मनोरंजन मुहैया करनेवाली सामग्री का भी उनमें प्रायः अभाव रहता था लेकिन उनमें जो कुछ रहता था वह स्थायी महत्त्व का होता था। आज भी वह एक विचारधारा को समझने के लिए अनिवार्य है।

वह मात्र लेखक ही नहीं, भाषाविद् भी थे। गुजराती में उन्होंने वर्तनी की अराजकता दूर की थी। हिन्दी को न केवल अनेक सहज सुन्दर पारिभाषिक शब्द दिये बल्कि सुधरी लिपि देने का प्रयत्न भी किया।

पत्र-लेखक

पत्र लेखक रूप में काका साहब अप्रतिम हैं। अपना हृदय उँडेल देते हैं पत्रों में। गम्भीर-से-गम्भीर और जटिल-से-जटिल विषय का बिना किसी वर्जनशीलता के ऐसा विवेचन करते हैं कि पत्र पानेवाला चाहने लगता था कि वह उनसे निरंतर पत्र-व्यवहार करता रहे। वे स्पष्ट वक्ता थे पर उतने ही विनोदप्रिय और स्नेहिल भी। उनके पत्रों में हार्दिकता के साथ-साथ ज्ञान भी है और प्रेरक तत्त्व भी, जो पत्र पानेवाले को आशा और उमंग के साथ बेहतर जीवन जीने का मार्ग दिखाते हैं। अपनी पुत्रवधू से उनका नाना विषयों पर जो नियमित पत्र-व्यवहार हुआ, उन पत्रों का एक संकलन बम्बई सरकार द्वारा पुरस्कृत भी हुआ था।

सन् 1925 में जब सत्याग्रहाश्रम के वातावरण को लेकर गांधी जी ने उपवास किया था तब काका तपेदिक से पीड़ित होकर चिंचवड़ में स्वास्थ्य लाभ करने गये थे। वहीं से उन्होंने बापू जी को लिखा :

> "आप मानते हैं ऐसे हम नहीं हैं, वैसा होने की कोशिश करनेवाले हैं लेकिन यदि हमारे सब पाप आप अपने मानने का आग्रह रखेंगे तो हमें वह सहन नहीं हो सकेगा'''स्वच्छन्द हमारा और प्रायश्चित्त की जिम्मेदारी आपकी, यह कहाँ का श्रम विभाग है।'''सत्य के नाम से कहता हूँ कि आपके उपवास में अन्याय है, यह देखकर भूल से या ग़लतफ़हमी से लिये हुए उपवास छोड़ने का भी एक उदाहरण आप पेश कीजिए।"

[समन्वय के साधक, पृ० 28, टिप्पणी—1-2]

नृत्य संगीत के बारे मे संगीत मे निष्णात विजया को वह लिखते हैं—

"सचमुच किसी अन्य ललित कला से संगीत और नृत्यकला दोनो हृदय व आत्मा की सबसे अधिक पोषक हैं। ये दोनों कलाएँ कम-से-कम खर्च की और अधिक-से-अधिक जीवन-समृद्धि की पोषक हैं…जिन्होंने संगीत और नृत्य को सिर्फ आमदनी का साधन नहीं बनाया बल्कि जीवन की कमाई के रूप में ढाला है, उसके स्वभाव, बातचीत, हलन-चलन और सामान्य विवेक मे भी एक तरह की सुन्दर प्रमाणबद्धता, सुघड़ता और सुरुचि आ जाती है।

यही बात मैंने टेनिस आदि खेल खेलते लोगो मे देखी है… हमारे जमाने मे न जाने कौन-सी पनौती लगी थी कि संगीत और नृत्यकला दोनो के बारे मे राष्ट्रीय अभिरुचि की निन्दा ही प्रगति मानी जाती थी।…अपने देश का जीवन पहले से ही कलाविहीन नही था। मैं जब बहुत छोटा था तब सतारा मे, पुणे मे और जगह-जगह लड़कियाँ घूमती, बड़ी पींगा खेलती और जोरदार लड़कियाँ जब जपूरजा का नाच नाचती तब ऐसा लगता जैसे आँगन उखड़ जाएगा।" [समन्वय के साधक, पृ० 295-96]

ये दो उद्धरण सत्य और कला को लेकर हैं। ऐसे ही अपने अनेक पत्रों मे वे किसी को संस्कृत साहित्य मे दिलचस्पी लेने की राय देते हैं, किसी हिमालय की प्रेमिका को सागर के गम्भीर काव्य का साक्षात्कार कराते हैं। कालिदास के शब्दों मे 'समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवान वा', किसी से विवाह और सन्तति-नियमन की चर्चा करते हैं तो किसी को 'स्वार्थी तटस्थ भाव' त्यागने को कहते हैं। किसी से कहते हैं कि वह तारों से दोस्ती करे। किसी के पत्र की प्रशंसा इन शब्दों मे करते हैं:

"वाह, क्या पत्र है! गुस्सा, नाराजगी, अबोला और कुट्टी से पत्र की शुरुआत क्या कोई 'सादर सविनय प्रणाम' से करता है। रूठने की भी एक कला है…गुस्सा कैसे होना, कमना कैसे है और फिर जैसे कुछ हुआ ही नहीं था, यह सब सीखने के लिए, एक अच्छा साधन हो, इसलिए तो लड़कियाँ शादी करती हैं। तुम्हारे 'वे' तुम्हें रूठने का मौका ही नहीं देते हैं, ऐसा लगता है।"

एक पत्र मे पूरी गम्भीरता से यह बताते हैं कि मीरा विचार गोष्ठी का क्या होना चाहिए लेकिन अन्त में लिखना नहीं भूलते, "चि० रसिका और वनमाला दोनों की सीवनें मर गयी होंगी। चि० मीना को चाहिए कि बच्चों की लीला के वर्णन लिखे।"

उनके पत्रों का एक बृहद् संग्रह होना अभी अपेक्षित है। निश्चय ही वह ग्रन्थ उन काका साहब की खोज में सहायक होगा जो विराट ज्ञान और अनुभव के पीछे

टीकाकार और सर्जक

काका साहब का एक और रूप था। दूसरी भाषाओं में जो उन्हें अच्छा लगा, उसे उन्होंने अपनाया। अनुवाद भी किया। वे विश्वकवि रवीन्द्रनाथ के परम भक्त थे। गाँधी जी न मिल गये होते तो सम्भवतः उन्हीं के हो रहे होते वह। भौतिक अर्थों में न सही, मानसिक रूप से तो वे उनके बन ही गये थे। कवि हृदय और सौन्दर्य के प्रति अद्भुत आकर्षण वहीं से मिला था उन्हें। उन्होंने रविबाबू के उपन्यास 'मालच' का मराठी में अनुवाद किया। दूसरी भाषाओं से भी अनुवाद किया। यहाँ उनकी विशिष्ट व्याख्या शैली का परिचय देना भी आवश्यक है। 'रवीन्द्र प्रतिमा' में काका साहब ने रवि बाबू की पुस्तक 'लिपिक' से लेकर 39 गद्य काव्यों का अर्थ निरूपण किया है। वह मात्र अनुवाद नहीं है। प्रत्येक गीत की उन्होंने इस प्रकार व्याख्या की है कि हम उस अनुभव में से गुज़रने लगते हैं जिसकी शायद स्वयं कवि ने भी कल्पना नहीं की होगी। विस्तृत अर्थ निरूपण में काव्य का आशय तो स्पष्ट हो ही जाता है—व्याख्याकार उसके नये अर्थ भी खोज लेता है—

> आजि वसन्त जाग्रत द्वारे
> तब अवगुण्ठित जीवने
> कोरो न विडम्बित तारे

इसका अर्थ समझाते-समझाते काका अन्तर्जातीय विवाहों की उपयोगिता प्रतिपादित करने लगते हैं। वे कहते हैं, "हम सर्कुचितता छोड़कर सारे जगत में एक रूप होना विश्व के आनन्द में अपना आनन्द मानना और अनुभव करना सीखें। अपना-पराया भाव गया, स्वार्थ गल गया और क्षुद्र वासनाओं का अन्त हुआ, फिर तो मात्र आनन्द देकर ही यह पाने का शेष रहता है। अपनी आन्तरिक मधुरता आदि सारे विश्व को दी तो क्या बिगड़ा। अपने जीवन के शुभग क्षण में वसन्त की बहार आने पर हम अपना सर्वस्व अर्पण करने को बाहर क्यों न निकलें। अपना जीवन कुंठित करके अवगुंठन में उलझे क्यों रहें।"

इसी शैली को उन्होंने गीतांजलि के गीतों की व्याख्या करने में अपनाया है। यह पुस्तक मराठी, गुजराती और हिन्दी, तीनों भाषाओं में संपादित हुई। त्योहारों का वर्णन विश्लेषण करते हुए भी वे इसी शैली को अपनाते हैं। दीवाली का मानना क्यों में परिचय देते-देते वे मृत्यु के रहस्य को समझाने लगते हैं।

> "प्रत्येक नयी पीढ़ी जवानी का जोश लेकर आगे बढ़ती रहती है और पुरानी पीढ़ी बुढ़ापे के परावलम्बन को महसूस करती हुई मुक्त हो जाती है। यह कैसे भुलाया जा सकता है कि बूढ़ा निर्वेतन बना हुआ अपना अनुभव [illegible]

बसन्त की उँगली पकड़कर ले आता है। इस बात को भुलाने से काम नहीं चलेगा कि हेमन्त की काटनेवाली ठण्डक में ही बसन्त का प्रसव है।"

"दीवाली के दिन बसन्त की अपेक्षा से, बसन्त की मार्ग प्रतीक्षा से, अगर हम दीपोत्सव कर सकते हैं, आनन्द और मंगल का अनुभव कर सकते हैं तो हम मृत्यु से क्यों न खुश हों। दीवाली हमें सिखाती है कि मृत्यु में ही नव जीवन प्रदान करने की शक्ति है, दूसरों में नहीं···"

काका साहब ने मुख्य रूप से तीन भाषाओं में लिखा—मराठी, गुजराती और हिन्दी। लगभग 125 पुस्तकें उन्होंने इन भाषाओं में मूल रूप में लिखीं। हिन्दी मे लिखी पुस्तकों की संख्या चालीस के लगभग है। उनमें व्यक्ति चित्र, प्रवास-वर्णन, प्रकृति और उसकी भव्यता का निरूपण करनेवाले ललित निबन्ध, सांस्कृतिक निबन्ध, तात्त्विक निबन्ध और रवीन्द्र काव्य पर लिखे काव्य है। काका साहब ने कविता, कहानी, नाटक को छोड़कर सब कुछ लिखा है लेकिन जितने वे गुजराती में प्रख्यात और लोकप्रिय हुए उतने हिन्दी मे नहीं। विद्वानों, सर्जकों, सजग पाठकों और शिक्षा जगत् से सब कहीं उनको सम्मान और प्यार मिला है। गुजराती में उनकी तीन पुस्तकें तो अद्‌भुत रूप से लोकप्रिय हुईं—'ओतराती दिवालो' (1925), 'हिमालय नो प्रवास' (1924), और 'स्मरण यात्रा' (1934)।

'उत्तर की दीवारें' में उन्होंने अपने जेल जीवन का वर्णन किया है परन्तु कारावास की कहानी की अपेक्षा वह किसी कवि द्वारा रचित प्रकृति का काव्य अधिक है। श्री गुलाम रसूल कुरेशी ने जो स्वयं उस जेल में थे, यह पुस्तक पढ़कर लिखा, "जेलवास के दरम्यान जेल की शुष्क दीवारों में भी जिस भव्यता का दर्शन हो सकता है उसका भान बाहर आने के बाद 'ओतराती दिवालो' ने कराया।"

'स्मरण यात्रा' में उन्होंने अपने परिवार और उस युग के कुछ चित्र इस प्रकार उकेरे हैं, उन प्रसंगों को ऐसी आत्मीयता दी है कि उनको पढ़कर मन उनमें रम जाता है और उन अनुभवों से हम एक रूप हो उठते हैं। बिना प्रयास में वे इतने मार्मिक हो उठे हैं कि श्री सी. जी. वालेस कह उठे—"सच कहूँ तो भारत की आत्मा की प्रथम झाँकी उसी में देखने को मिली। मुझे इसमें मानो रसोईघर में बैठकर बातें करने का आनन्द आया और वे बातें भी कितनी मोहक, सरल, वास्तविक और हृदयस्पर्शी थी···।"

गुजराती भाषा में उन्होंने अनेक प्रवास वर्णन लिखे पर 'हिमालय की यात्रा' उनमें सर्वोत्तम है। आचार्य कृपलानी के शब्दों में, 'उनके हिमालय और महायात्रा के वर्णन अभूतपूर्व हैं।"
[समन्वय के साधक पृ० 22]

गुलाम रसूल कुरेशी ने इसमें जीवन की भव्यता के साथ हिमाच्छादित प्रदेश की भव्यता का सुन्दर सुमेल होते देखा है। प्रोफेसर चन्द्रवदन मेहता की राय में तो केवल गुजराती साहित्य में ही नहीं बल्कि विश्व-साहित्य में प्रकृति दर्शन की विशेषता के लिए यह पुस्तक चिरन्तन स्थान प्राप्त करेगी। रमणलाल जोशी ने उनका मूल्यांकन करते हुए बताया कि वे गुजराती गद्य के प्रणेता क्यों बने। इसलिए बने कि इसकी नींव में उनकी सौन्दर्याभिमुख कवि दृष्टि थी, उनकी सर्जकता गद्य में रमणीय काव्य का निर्माण कर देती है। उमाशंकर जोशी ने काका साहब का परिचय देते हुए उन्हें 'कवि' कहा है। यह सर्वथा उचित ही है। "ललित निबन्ध, आत्मपरक निबन्ध, लेखन में काका साहब की सिद्धि अनोखी है। तदुपरान्त वैचारिक निबन्ध, स्मरण यात्रा, शैक्षणिक विचार, साहित्य विवेचन आदि में भी उनकी देन मूल्यवान है।" [समन्वय के साधक, पृ० 75]

उनकी इस सफलता का कारण क्या है, कैसे उन्होंने गुजराती भाषा को अपनी विशिष्ट शैली से सरल और रोचक बनाया। उसके कई कारण हैं—सर्वप्रथम तो यह कि उन्होंने साहित्य के लिए साहित्य नहीं लिखा। जो कुछ किया या कहें जो कुछ जिया, वही लिखा। दूसरा कारण है कि वह कभी उपदेशक नहीं बने, सौन्दर्य-द्रष्टा ही रहे हैं। लेकिन काका साहब का सौन्दर्य बोध प्रचलित अर्थों से थोड़ा भिन्न था। रवीन्द्र से सौन्दर्य दृष्टि उन्हें मिली थी, उसे उन्होंने गांधी की श्रद्धा और सत्य से जोड़ा था। जीवन में श्रद्धा से ही सौन्दर्य बोध और कलात्मक प्रवृत्ति अधिक समृद्ध होती है। उनके साहित्य में यही समृद्ध सौन्दर्यबोध है विशेषकर 'हिमालय की यात्रा' में। उनकी कई पुस्तकों के नाम में जीवन शब्द आता है। यह अनायास ही नहीं है। वह इसलिए है कि वह सौन्दर्य-प्रेमी होकर भी जीवनधर्मी साहित्यकार है। उनके लिए कला जीवन के लिए है। यहाँ रवीन्द्र और गांधी की दृष्टि का समन्वय है। उनकी एक और देन थी रमणलाल जोशी के शब्दों में है, "संस्कृत के संस्कारोंवाली और साथ ही अपनी कहावतों और रूढ़ प्रयोगों का स्वाभाविक विनियोग करनेवाली प्रभावशाली जीवन्त गुजराती भाषा।"

इन्हीं गुणों के कारण उनके हर भाषा वर्ग के पाठकों ने अनुभव किया है कि उनके साहित्य को पढ़ते-पढ़ते वे स्वयं उन अनुभवों में गुजरने लगते हैं, जिनका काका साहब ने वर्णन किया है। किसी भी कृतिकार के लिए इससे बड़ी उपलब्धि और क्या हो सकती है?

गुजराती में उनका समूचा साहित्य 'कालेलकर ग्रन्थावली' के नाम से पन्द्रह खण्डों में प्रकाशनाधीन है। हिन्दी में भी ऐसा हो सके तो हिन्दी साहित्य को उनका बहुमूल्य योगदान रेखांकित हो सकेगा।

काका साहब कालेलकर जैसे बहुभाषाविद् और बहुमुखी प्रतिभा के धनी,

चिर प्रवासी, साहित्यकार, मौलिक-चिन्तक, शिक्षा-शास्त्री, रचनात्मक कार्य
और स्वाधीनता संग्राम के समर्पित सेनानी के जीवन और कार्य का लेखा-जो
इस छोटी-सी पुस्तिका में लेना असम्भव है, फिर भी इन पंक्तियों के लेखक ने द
धृष्ठता इसलिए की कि शायद यह क्षुद्र प्रयत्न किसी सत्य के खोजी के हृद
सिन्धु की रटना जगा सके।

एक बात हम 'करण्ट' के सम्पादक और सुधी साहित्यकार श्री महा
अधिकारी के शब्दों मे निश्चय ही कह सकते हैं कि उनके समस्त जीवन औ
कृतित्व, युगीन दायित्वों और महान चुनौतियों पर जब हम नज़र डालते हैं औ
उनके आजीवन एकनिष्ठ प्रयास का सिंहावलोकन करते हैं तो विदित होता है वि
व्यक्ति की अपनी साधना का महत्त्व सिद्धान्त की सामुदायिक अभिव्यक्ति के मुका
बले किसी प्रकार कम नहीं होता।

गांधी जी की पाठशाला में उन्होने यही पाठ पढ़ा था और युधिष्ठिर की तर
पढ़ा था।

चयन

मरण का सच्चा स्वरूप

'दिवस' शब्द के दो अर्थ होते हैं एक संकुचित, दूसरा व्यापक। सुबह से शाम तक के बारह घंटे के प्रकाशमय विभाग को दिवस कहते हैं दूसरे अँधेरे वाले विभाग को रात्रि।

'दिवस' शब्द का दूसरा व्यापक अर्थ है। दिवस और रात्रि मिलकर होने वाले चौबीस घंटों के काल विभाग को भी 'दिवस' कहते हैं। जब महीनों के और वर्षों के दिवसों की गिनती होती है तब चौबीस घंटे के समस्त दिवस का ही विचार किया जाता है।

'जीवन' शब्द के भी ऐसे ही दो अर्थ होते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु के क्षण तक के कालखण्ड को भी 'जीवन' कहते हैं और जीवन तथा मृत्यु दोनों को मिलाकर जो व्यापक हस्ती होती है, उसे भी 'जीवन' कहते हैं। सचमुच तो जीवन और मृत्यु दोनों को मिलाकर ही सम्पूर्ण जीवन बनता है।

हम कितने वर्ष जीयेंगे, सो कोई नहीं जानता। मृत्यु के बाद फिर से नया जन्म लेने तक कितना समय अज्ञान अँधेरे में रहेंगे, सो भी हम नहीं जानते। मृत्यु होने के बाद और नव जन्म प्राप्त होने के पहले क्या हमारा जीवन शून्य रूप ही होता है? सही हालत कौन कह सकेगा? केवल कल्पना ही करनी पड़ती है।

रात को जब हम सोते हैं, तब अपने को भूल जाते हैं। मानो हमें क्लोरोफार्म दिया गया हो या ऐसा इंजेक्शन कि जिससे चेतना लुप्त हो जाय। लेकिन स्वप्न में हम सोते-सोते एक नयी सृष्टि खड़ी करते हैं, जिसे स्वप्नसृष्टि कहते हैं।

यह स्वप्नसृष्टि क्या है सो हम निश्चित रूप से नहीं जानते। कभी-कभी जाग्रत सृष्टि के बिखरे हुए अंशों का प्रतिबिम्ब उसमें होता है। उसमें भी [illegible] दर्शन और अस्पष्ट चित्र मिलाकर एक नया ही अद्भुत अथवा विचित्र [illegible] ता है। उसका मर्म कौन है सो हम नहीं जानते। इसलिए उस स्वप्नसृष्टि के

चाहे जितने व्यक्तियों का दर्शन होता होगा, पर सारी स्वप्नसृष्टि हमारी अंदर ही होती है। उसमें औरों को कभी प्रवेश नहीं मिलता।

इस स्वप्नसृष्टि का पारमार्थिक स्वीकार और थोड़ा चिन्तन 'माण्डूक्य उपनिषद्' में पाया जाता है। उसके काल्पनिक वर्णन पुराणों में पढ़ने को मिलते हैं और उसका अर्थ करने की अर्थविहीन कोशिश स्वप्नाध्याय में हमने पढ़ी थी। आजकल फ्रायड और युग जैसे मानस-विज्ञानवेत्ता मनीषी स्वप्न का व्यवस्थित अर्थ करने की कोशिश कर रहे हैं। उससे इस वक्त हमें कोई मतलब नहीं है। हमारा सवाल इतना ही है कि नींद के दरम्यान जैसे एक जागृत बाह्य स्वप्न सृष्टि का अनुभव होता है वैसे ही मृत्युकाल में कोई जीवन-बाह्य मृत्यु सृष्टि होती है या नहीं? पुराणों ने ऐसी सृष्टि की कल्पना की है, लेकिन उससे कोई खास मदद नहीं मिलती।

जो हो, परिचित जीवन और अज्ञात अपरिचित मृत्यु मिलकर जो जीवन होता है, उसी का विचार हमें करना है।

ऐसा लगता है कि जन्म-मृत्यु को मिलाकर जो विशाल जीवन बनता है, वह एक विशाल गहरा सागर है। संकुचित अर्थ में जिसे हम जीवन कहते हैं, वह तो उस विराट सागर का केवल पृष्ठभाग ही है। जीवन की गहराई तो मृत्यु में ही देखनी पड़ेगी। इस क्षण यह केवल कल्पना ही है। किन्तु मृत्यु को अगर हम एक क्षण मानें और मरण को दो जीवनों के बीच की अज्ञात अवधि मानें, तो उस काल-खण्ड की जानकारी किसी-न-किसी दिन होनी ही चाहिए। अगर ऐसी जानकारी मिली तो पूर्वजन्म का सवाल भी हल हो जाएगा और जन्मान्तर तथा मोक्ष का सिद्धान्त भी स्पष्ट होगा।

जो हो, इस वक्त तो जीवन और मृत्यु को मिलाकर जो विशाल जीवन बनता है, उसी का चिन्तन करना चाहते हैं।

जो जीवन हम जीते हैं, उसके भी दो विभाग करना ज़रूरी है। इसके लिए हम एक वृक्ष की मिसाल लें।

बीज में से जब अंकुर निकलता है तब से वृक्ष अपनी पूरी ऊँचाई तक पहुँचता है तब तक उसके कलेवर में वृद्धि होती जाती है। ऊँचाई, विस्तार और जड़ों की गहराई तीनों में वृद्धि होती हुई हम स्पष्ट देखते हैं। जब इस विस्तार की मर्यादा आ जाती है तब न ऊँचाई बढ़ती है, न शाखाओं की संख्या। पत्ते भी पुराने गिरते हैं और नये पैदा होते हैं, लेकिन विस्तार पूरा होने के बाद वृक्ष के बाह्य रूप में कोई फ़र्क़ नहीं दीख पड़ता है। लेकिन उसके विकास का अन्त नहीं होता। विस्तार की पूर्णता के बाद वृक्ष का सारा कलेवर अन्दर से परिपक्व, मज़बूत और सुघट बनता जाता है। उसके फलों में भी रस की दृष्टि से फ़र्क़ होने लगता है।

जीवन का विस्तार उसकी मर्यादा तक बढ़ने के बाद आन्तरिक परि

चाहे जितने व्यक्तियों का दर्शन होता होगा, पर सारी स्वप्नसृष्टि हमारी अकेले ही होती है। उसमें औरों को कभी प्रवेश नहीं मिलता।

इस स्वप्नसृष्टि का पारमार्थिक स्वीकार और थोड़ा चिन्तन 'माडूक्य उपनिषद्' में पाया जाता है। उसके काल्पनिक वर्णन पुराणों में पढ़ने को मिलते हैं और उसका अर्थ करने की अर्थविहीन कोशिश स्वप्नाध्याय में हमने पढ़ी थी। आजकल फ्रायड और युंग जैसे मानस-विज्ञानवेत्ता मनीषी स्वप्न का व्यवस्थित अर्थ करने की कोशिश कर रहे हैं। उससे इस वक़्त हमें कोई मतलब नहीं है। हमारा सवाल इतना ही है कि नींद के दरम्यान जैसे एक जागृत बाह्य स्वप्न सृष्टि का अनुभव होता है वैसे ही मृत्युकाल में कोई जीवन-बाह्य मृत्यु सृष्टि होती है या नहीं? पुराणों ने ऐसी सृष्टि की कल्पना की है, लेकिन उससे कोई खास मदद नहीं मिलती।

जो हो, परिचित जीवन और अज्ञात अपरिचित मृत्यु मिलकर जो जीवन होता है, उसी का विचार हमें करना है।

ऐसा लगता है कि जन्म-मृत्यु को मिलाकर जो विशाल जीवन बनता है, वह एक विशाल गहरा सागर है। संकुचित अर्थ में जिसे हम जीवन कहते हैं, वह तो उस विराट सागर का केवल पृष्ठभाग ही है। जीवन की गहराई तो मृत्यु में ही देखनी पड़ेगी। इस क्षण यह केवल कल्पना ही है। किन्तु मृत्यु को अगर हम एक क्षण मानें और मरण को दो जीवनों के बीच की अज्ञात अवधि मानें, तो उस काल-खण्ड की जानकारी किसी-न-किसी दिन होनी ही चाहिए। अगर ऐसी जानकारी मिली तो पूर्वजन्म का सवाल भी हल हो जाएगा और जन्मान्तर तथा मोक्ष का सिद्धान्त भी स्पष्ट होगा।

जो हो, इस वक्त तो जीवन और मृत्यु को मिलाकर जो विशाल जीवन बनता है, उसी का चिन्तन करना चाहते हैं।

जो जीवन हम जीते हैं, उसके भी दो विभाग करना जरूरी है। इसके लिए हम एक वृक्ष की मिसाल लें।

बीज में से जब अंकुर निकलता है तब से वृक्ष अपनी पूरी ऊँचाई तक पहुँचता है तब तक उसके कलेवर में वृद्धि होती जाती है। ऊँचाई, विस्तार और जड़ों की गहराई तीनों में वृद्धि होती हुई हम स्पष्ट देखते हैं। जब इस विस्तार की मर्यादा आ जाती है तब न ऊँचाई बढ़ती है, न शाखाओं की संख्या। पत्ते भी पुराने गिरते हैं और नये पैदा होते हैं, लेकिन विस्तार पूरा होने के बाद वृक्ष के बाह्य रूप में कोई फ़र्क नहीं दीख पड़ता है। लेकिन उसके विकास का अन्त नहीं होता। विस्तार की पूर्णता के बाद वृक्ष का सारा कलेवर अन्दर से परिपक्व, मजबूत और सुघट बनता जाता है। उसके फलों में भी रस की दृष्टि से फ़र्क होने लगता है। इसी तरह जीवन का विस्तार उसकी मर्यादा तक बढ़ने के बाद आन्तरिक परिपक्वता में बढ़-

बढ़ता जाता है, कोई यह नहीं कहता विस्तार रुक गया, इसलिए विकास भी रुक गया। ऐसे भी वृक्ष हैं कि आठ-दस वर्ष के विस्तार के बाद सौ-दो सौ वर्ष या अधिक समय तक उनका आंतरिक विकास होता रहता है, जिसे परिपक्वता कहते हैं।

हमारे शास्त्रकारों ने कर्मभूमि और भोगभूमि ऐसा एक भेद बताया है। यह पृथ्वी कर्मभूमि है। इसमें पुरुषार्थ के लिए अवकाश है। इसमें मनुष्य अपने को सुधार सकता है, या बिगाड़ सकता है। भोगभूमि में पुण्य-पाप का फल भुगतने की बात रहती है। उसमें नये पुरुषार्थ के लिए अवकाश नहीं रहता। कर्मभूमि और भोगभूमि का यह भेद और ऊपर बताया हुआ विस्तार और विस्तार रहित परिपक्वता का भेद ध्यान में लेने के बाद हम कल्पना कर सकते हैं कि मरण के बाद मनुष्य तुरन्त दूसरा जन्म नहीं लेता। किन्तु जो जीवन पूरा किया उसके सब संस्कारों को हजम करके परिपक्व बनाने के लिए कुछ समय लेता है। मृत्यु के बाद की मरणावस्था केवल शून्यमय अथवा अभावात्मक नहीं है, किन्तु पाचन की क्रिया के जैसा कुछ परिवर्तन करने का यह काल होगा। गणित, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन करने वाले लोगों का अनुभव है कि पढ़ते-पढ़ते अथवा प्रयोग करते-करते जो बात किसी भी तरह ध्यान में नहीं आती वह सोकर उठने के बाद तुरन्त स्पष्ट होती है और कभी-कभी नयी दिशा ही मिलती है। वे कहते हैं कि नींद में सुप्त मन किसी अजीब ढंग से काम करता रहता है और जागृति में मन जहाँ नहीं पहुँच सकता था, वहाँ सुषुप्ति में पहुँच सकता है। जागृति में प्रयोग हो सकते हों, स्वप्न और सुषुप्ति में अकेला चिन्तन हो सकता हो, तो मरण के द्वारा जीवनानुभूति का रसायन बनाने की क्रिया क्यों नहीं होती होगी?

मरण-पूर्व जीवन का खात्मा होते ही सब कुछ खत्म हो जाता, तो मनुष्य को विशाल निस्सारता का और वैफल्य का ही अनुभव होता। मृत्यु का सतत दर्शन होते हुए भी मनुष्य के मन में अमरत्व की जो अदम्य कल्पना बनी रहती है, उसी पर से यह स्पष्ट कल्पना सहज रूप में होती है कि मृत्यु के बाद मरण प्रधान अथवा मरणाधीन एक अद्भुत अज्ञात जीवन होता है, जिसका खयाल हमें नहीं है। आत्मा की प्रगति मरणावधि के जीवन में उत्तम ढंग से होती होगी। उस अवधि में ज्ञान-प्राप्ति के लिए भौतिक इन्द्रिय की मदद की जरूरत शायद नहीं रहती होगी।

जो हो, मरणावस्था की व्याप्ति और उसका स्वरूप आज हम नहीं जानते, इसलिए हम उसका महत्त्व कम न मानें।

मरण के बारे में हमारा डर इतना जबरदस्त होता है कि मरण क्या है, इसका चिन्तन-मनन करने के लिए जरूरी नटखटपना और उत्साह हम खो बैठते हैं। हम नहीं मानते कि मनुष्य अगर पूरे निश्चय से कुतूहल को जाग्रत करे, तो कोई भी वस्तु उसके लिए अज्ञात रह सकती है।

आजकल छोटे एकांकी नाटक हम देखते हैं। पुराने नाटक पाँच अथवा सात

अंक में होता है। इन अंकों में सम्भाषण, अभिनय और गीतों के द्वारा जीवन का प्रदर्शन करने के बाद एक पर्दा आता है और उसके ऊपर उठने पर दूसरा अंक शुरू होता है। कभी-कभी दो अंकों के बीच जो घटनाएँ होती हैं वे नाट्यानुकूल न होते हुए भी बतानी तो पड़ती हैं, इसलिए दो अंकों के बीच एक छोटा-सा प्रवेश डालते हैं, जिसे 'विष्कम्भक' कहते हैं।

जब पर्दा गिरता है तब नटों को नवीन अंक की तैयारी करने का और वेश बदलने का अवकाश मिलता है। विष्कम्भक के द्वारा दो अंकों के घटनाक्रम के बीच की कड़ी प्रेक्षकों को बताई जाती है। जब विष्कम्भक नहीं होता तब प्रेक्षकों को कड़ियों की कल्पना ही करनी पड़ती है।

अब एक जन्म के अन्त में मृत्यु का पर्दा गिरते ही तुरन्त उसे ऊपर नहीं खींचा जाता। मृत्यु को या तो हम दो प्रकट जीवनों के बीच का एक पर्दा समझ सकते हैं अथवा विष्कम्भक। लेखन में एक वाक्य पूरा होने पर हम पूर्ण विराम का एक बिन्दु अथवा दंड रखते हैं और किसी नव-विचार के प्रारम्भ की ओर ध्यान खींचने के लिए नयी कंडिका से उसका प्रारम्भ करते हैं। एक कंडिका का विस्तार पूरा हुआ, उसका मतलब ध्यान में आया, उस मतलब को साथ लेकर आगे बढ़ने के लिए विचार की नई साँस लेना जरूरी है, ऐसा जब लगता है, तब हम नयी कंडिका शुरू करते हैं। एक-एक मृत्यु को इसी तरह हम कंडिका का अन्तर भी समझ सकते हैं और जब अध्याय बदलता है, प्रकरण बदलता है, तब भी यह परिवर्तन काल-सूचक और विचार की ताजगी पैदा करनेवाला प्रारम्भक बनता है। मृत्यु भी विशाल जीवन के लिए ऐसा ही एक आवश्यक परिवर्तन गिना जा सकता है।

जो हो, मृत्यु हमारे जीवन का एक अत्यन्त आवश्यक और पोषक अंग है, इतना तो स्पष्ट होना है, लेकिन मृत्यु की अवधि विकास-शून्य होगी, ऐसी कल्पना करना हमारे लिए मुश्किल है। इसलिए हम तो दिवस और रात्रि के क्रम के जैसा ही जीवन और मरण का क्रम हैं, ऐसा मानते है। पुराणकारो ने दो जीवनो के बीच की अवधि की कथाएँ रचकर उसको एक काल्पनिक स्वप्नसृष्टि बनाई है। हमारी कल्पना के लिए उनके प्रयास पोषक हैं। लेकिन पुराणकारो को इस मरण-सृष्टि का हम कुछ विशेष महत्त्व नहीं मानते क्योंकि पुराण न तो केवल इतिहास है, न केवल कल्पना है, वह एक काव्यमय सृष्टि है। संस्कृत के आकलन के लिए वह उपयोगी है और विनोद के लिए उसका उपयोग स्पष्ट है ही।

मरण का भय रखकर बुद्धि को जड़ बना देना और कल्पना को मूर्छित करना हमें पसन्द नहीं है। अगर हम ज्ञानोपासक बनकर मृत्यु के रहस्य को ढूँढने की कोशिश करेंगे, तो हमारा विश्वास है कि भगवान की कृपा से हमें उसमें सफलता मिलेगी, निराश नहीं होना पड़ेगा। हमारा यह भी विश्वास है कि मरणावधि का जीवन हमारे जीवन से कम महत्त्व का नहीं है। ['परमसखा मृत्यु' से]

वसन्त पंचमी

वसन्त पंचमी क्या है? ऋतुराज का स्वागत।

माघ शुक्ल पंचमी को हम वसन्त पंचमी कहते हैं। परन्तु वसन्त पंचमी हर शख्स के लिए उसी दिन नहीं होती। ठण्डे खून वाले आदमी के लिए वसन्त पंचमी इतनी जल्दी नहीं आती।

वसन्त पंचमी प्रकृति का यौवन है। वह मनुष्य वसन्त पंचमी के आगमन का अनुभव, बिना ही कहे करता है, जिसका रहन-सहन प्रकृति के प्रतिकूल न हो—जो कुदरत के रंग में रंग गया हो। नदी के क्षीण प्रवाह में एकाएक आयी हुई बाढ़ को हम जिस प्रकार अपनी आँखों से देखते हैं, उसी प्रकार हम वसन्त को भी आता हुआ देख सकते हैं। अलबत्ता वह एक ही समय सबके हृदय में प्रवेश नहीं करता।

वसन्त जब आता है, तब यौवन के उन्माद के साथ आता है। यौवन में सुन्दरता होती है, पर यह नहीं कह सकते कि उसमें क्षेम भी हमेशा होता है। यौवन की तरह वसन्त में भी शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना कठिन हो जाता है। तारुण्य की तरह वसन्त भी लहरी और चंचल होता है। कभी जाड़ा मालूम होता है कभी गरमी, कभी जी ऊबने लगता है, कभी उल्लास मालूम होने लगता है। जाड़े में खोयी हुई शक्ति फिर प्राप्त की जाती है, परन्तु जाड़े में प्राप्त की हुई शक्ति को वसन्त में संचित कर रखना आसान नहीं है। वसन्त में यदि संयम के साथ रहा जा सके, तो सारे वर्ष भर के लिए आरोग्य की रक्षा हो जाती है। वसन्त में प्राणिमात्र पर एक चित्ताकर्षक कान्ति छा जाती है, पर वह वैसी ही खतरनाक भी होती है।

वसन्त के उल्लास में संयम की बात, संयम की भाषा, शोभा नहीं देती, सहन नहीं होती, परन्तु उसी समय उसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। क्षीण मनुष्य यदि पथ्य के साथ रहे तो इसमें कौन-से आश्चर्य की बात है? इससे क्या लाभ है? नाममात्र के जीवन में क्या स्वास्थ्य है? जीवन का आनन्द तो है सुरक्षित वसन्त।

वसन्त उड़ाऊ होता है। इस बात में भी प्रकृति का तारुण्य ही प्रकट होता है। फूल और फल कितने ही लगते हैं और कितने ही मुरझा जाते हैं, मानो प्रकृति जाड़े की कंजूसी का बदला देती है। वसन्त की समृद्धि चिरस्थायी समृद्धि नहीं। जो कुछ दिखाई पड़ता है वह स्थिर नहीं रहता।

राष्ट्र का वसन्त भी बहुत बार उड़ाऊ होता है। कितने ही फूल और फल बड़ी-बड़ी आशाएँ दिखाते हैं, परन्तु परिपक्व होने के पहले ही मुरझाकर गिर पड़ते हैं। सच्चे वही हैं, जो शरद ऋतु तक कायम रहते हैं। राष्ट्र के वसन्त में संयम की वाणी अप्रिय मालूम होती है, परन्तु वही पथ्यकर है।

उदय में विनय, समृद्धि में स्थिरता, यौवन में संयम—यही सफल जीवन का रहस्य है। फूलों की सार्थकता इसी बात में है कि उनका दर्प फल के रस के रूप में परिणत हो।

वसन्त पंचमी के उत्सव की सृष्टि शास्त्रकारों के द्वारा नहीं हुई, और न धर्माचार्यों ने उसे मान्य ही किया है। उसे तो कवियों और गायकों ने, तरुणों और रसिकों ने जन्म दिया है। कोयल ने उसे निमन्त्रण दिया है और फूलों ने उसका स्वागत किया है। वसन्त क्या है? पक्षियों का गान, आम्र-मंजरियों की सुगन्ध, शुभ्र अभ्रों की विविधता और पवन की चंचलता। पवन तो हमेशा ही चंचल होता है, परन्तु वसन्त में वह विशेष भाव से क्रीडा करता है। जहाँ जाता है, वहाँ पूरे जोश-खरोश के साथ जाता है। जहाँ बहता है, वहाँ पूरे वेग से बहता है। जब गाता है, तब पूरी शक्ति के साथ गाता है और थोड़ी ही देर में घूम भी जाता है।

वसन्त से संगीत का नवीन सूत्र शुरू होता है। गायक आठों पहर वसन्त के आलाप ले सकते हैं। न तो देखते हैं पूर्वरात्र, और न देखते हैं उत्तररात्र।

संगीत का प्रवाह तभी चलता है, जब संयम, औचित्य और रस तीनों का संयोग होता है। जीवन में भी अकेला संयम, श्मशानवत् हो जाता है, अकेला औचित्य दम्भ-रूप हो जाता है, अकेला रस क्षणजीवी विलासिता में लीन हो जाता है। इन तीनों का संयोग ही जीवन है। वसन्त में प्रकृति हमें रस की धारा प्रदान करती है। संयम और औचित्य-रूपी हमारी अपनी सम्पत्ति हमें उसमें जोड़नी चाहिए।

[जीवन साहित्य, पहला भाग]

गंगा मैया

नदी को यदि कोई उपमा शोभा देती है, तो वह माता की ही। नदी के किनारे पर रहने में अकाल का डर तो रहता ही नहीं। मेघ राजा जब धोखा देते हैं तब नदी माता ही हमारी फसल पकाती है। नदी का किनारा यानी शुद्ध और शीतल हवा। नदी के किनारे-किनारे घूमने जाएँ तो प्रकृति के मातृवात्सल्य के अखण्ड प्रवाह का दर्शन होता है। नदी बड़ी हो और उसका प्रवाह धीर-गम्भीर हो, तब तो उसके किनारे पर रहनेवालों की शानशौकत उस नदी पर ही निर्भर करती है। सचमुच नदी जन समाज की माता है। नदी-किनारे बसे हुए शहर की गली-गली में घूमते समय एकाध कोने से नदी का दर्शन हो जाए, तो हमें कितना आनन्द होता है। कहाँ शहर का वह गन्दा वायुमंडल और कहाँ नदी का यह प्रसन्न दर्शन। दोनों के बीच का अन्तर फ़ौरन मालूम हो जाता है। नदी ईश्वर नहीं है, बल्कि ईश्वर का स्मरण

करानेवाली देवता है। यदि गुरु को वंदन करना आवश्यक है तो नदी को भी वंदन करना उचित है।

यह तो हुई सामान्य नदी की बात। किन्तु गंगा मैया तो आर्य जाति की माता है। आर्यों के बड़े-बड़े साम्राज्य इसी नदी के तट पर स्थापित हुए हैं। कुरु-पांचाल देश का अंग-बंगादि देशों के साथ गंगा ने ही संयोग किया है। आज भी हिन्दुस्तान की आबादी गंगा के तट पर सबसे अधिक है।

जब हम गंगा का दर्शन करते हैं तब हमारे ध्यान में फसल से लहलहाते सिर्फ खेत ही नहीं आते, न सिर्फ माल से लदे जहाज ही आते हैं, किन्तु वाल्मीकि का काव्य, बुद्ध-महावीर के विहार, अशोक, समुद्रगुप्त या हर्ष जैसे सम्राटों के पराक्रम और तुलसीदास या कबीर जैसे सतजनों के भजन—इन सबका एक साथ स्मरण हो आता है। गंगा का दर्शन तो शैत्य-पावनत्व का हार्दिक तथा प्रत्यक्ष दर्शन है।

किन्तु गंगा के दर्शन का एक ही प्रकार नहीं है। गंगोत्री के पास के हिमाच्छादित प्रदेशों में इसका खिलवाड़ी कन्यारूप, उत्तरकाशी की ओर चीड़-देवदार के काव्यमय प्रदेश में मुग्धारूप, देवप्रयाग के पहाड़ों और संकरे प्रदेश में चमकीली अलकनंदा के साथ उसकी अठखेलियाँ, लक्ष्मण-झूले की विकराल दंष्ट्रा में से छूटने के बाद हरिद्वार के पास उसका अनेक धाराओं में स्वच्छन्द विहार, कानपुर से सटकर जाता हुआ उसका इतिहास प्रसिद्ध प्रवाह, प्रयाग के विशाल पट पर हुआ उसका कालिन्दी के साथ का त्रिवेणी संगम—हरेक की शोभा कुछ निराली ही है। एक दृश्य देखने पर दूसरे की कल्पना नहीं हो सकती। हरेक का सौन्दर्य अलग, हरेक का भाव अलग, हरेक का वातावरण अलग, हरेक का माहात्म्य अलग।

प्रयाग से गंगा अलग ही स्वरूप धारण कर लेती है। गंगोत्री से लेकर प्रयाग तक की गंगा वर्धमान होते हुए भी एक रूप मानी जा सकती है। किन्तु प्रयाग के पास उसमें यमुना आकर मिलती है। यमुना का तो पहले से ही दोहरा पाट है। वह खेलती है, कूदती है, किन्तु क्रीडाशक्त नहीं मालूम होती। गंगा शकुन्तला जैसी तपस्वी कन्या दीखती है। काली यमुना द्रौपदी जैसी मानिनी राजकन्या मालूम होती है। शर्मिष्ठा और देवयानी की कथा जब हम सुनते हैं, तब भी प्रयाग के पास गंगा और यमुना के बड़ी कठिनाई के साथ मिलते हुए शुक्ल-कृष्ण प्रवाहों का स्मरण हो आता है। हिन्दुस्तान में अनगिनत नदियाँ हैं, इसलिए संगमों का भी कोई पार नहीं है। इन सभी संगमों में हमारे पुरखों ने गंगा-यमुना का यह संगम सबसे अधिक पसन्द किया है, और इसीलिए उसका 'प्रयागराज' जैसा गौरवपूर्ण नाम रखा है। हिन्दुस्तान में मुसलमानों के आने के बाद जिस प्रकार हिन्दुस्तान के इतिहास का रूप बदला, उसी प्रकार दिल्ली-आगरा और मथुरा-वृन्दावन सरीखे से आते हुए यमुना के प्रवाह के कारण गंगा का स्वरूप भी प्रयाग के बाद बिलकुल बदल गया है।

दाक्षिण्य धारण कर नदियों के दर्शन के लिए आना चाहिए और भक्तिनम्र होकर, आगे-आगे जहाँ मौका हो, गाने में एक-दूसरे से मिल लेना चाहिए।

इस प्रकार गोआलंदो के पास जब गंगा और ब्रह्मपुत्र का विशाल जल आकर मिलता है, तब मन में संदेह पैदा होता है कि सागर और क्या होता होगा? विजय प्राप्त करने के बाद भगी हुई बड़ी सेना भी जिस प्रकार अव्यवस्थित हो जाती है और सिपाही चाहे जहाँ-तहाँ घूमते हैं, उसी प्रकार का हाल इसके बाद इन दो महान् नदियों का होता है। अनेक मुखों द्वारा वे सागर में जाकर मिलती हैं। हरेक प्रवाह का नाम अलग-अलग है और कुछ प्रवाहों के तो एक से भी अधिक नाम हैं। गंगा और ब्रह्मपुत्र एक होकर पद्मा का नाम धारण करती हैं। यही आगे जाकर मेघना के नाम से पुकारी जाती है।

यह अनेकमुखी गंगा कहाँ जाती है? सुन्दरवन में बेंत के झुंड उगाने? या सगरपुत्रों की वासना को तृप्त कर उनका उद्धार करने? आज जाकर आप देखेंगे तो यहाँ पुराने काव्य का कुछ भी शेष नहीं होगा। जहाँ देखो वहाँ सन की बोरियाँ बनानेवाली मिलें और ऐसे ही दूसरे बेहूदे विश्री कल-कारखाने दीख पड़ेंगे। जहाँ से हिन्दुस्तानी कारीगरों की आढ्य वस्तुएँ हिन्दुस्तानी जहाजों से लंका या जावा द्वीप तक जाती थीं, उसी रास्ते से अब विलायती और जापानी आगबोटें (स्टीमरें) विदेशी कारखानों में बना हुआ भद्दा माल हिन्दुस्तान के बाजारों में भर डालने के

लिए आती हुई दिखायी देती है। गंगामैया पहले ही की तरह हमें अनेक प्रकार की समृद्धि प्रदान करती जाती है। किन्तु हमारे निर्बल हाथ उसको उठा नहीं सकते।

गंगा मैया! यह दृश्य देखना तेरी किस्मत में कब तक बदा है?

देवों का काव्य

आजकल के दिन तारादर्शन के लिए और नक्षत्र-विद्या सीखने के लिए बहुत ही अच्छे हैं। शाम को पश्चिम की ओर चन्द्रकला बढ़ती जाती है और चन्द्र रोज एक-एक नक्षत्र में पदार्पण करता जाता है। पंचांग (पत्र) में देखने से पता चलता है कि चन्द्र किस नक्षत्र में और किस राशि में कहाँ तक है। पंचांग में तो राशि-चक्र गणितशास्त्र की बारह राशियों में बाँटा जाता है। वही चक्र सत्ताइस नक्षत्रों में भी समसमान विभागों में भी विभक्त किया जाता है।

अब आकाश में जो नक्षत्र दीख पड़ते हैं वे तो गणित के हिसाब से एक से फासले पर नहीं होते। न वे एक ही रास्ते पर एक कतार में आते हैं। कोई नक्षत्र उत्तर की ओर झुकता है तो कोई दक्षिण की ओर। इस तरह नक्षत्र-मार्ग चालीस अंश चौड़ा माना जाता है।

आकाश का गणित विभाग और होता है तथा नक्षत्र विभाग और होता है। तो भी निरयन (पुराना ग्रहलाघवी) पंचांग का गणित विभाग तारा-विभागों से बहुत कुछ मिलता है। इसलिए चन्द्र और बुद्ध, शुक्र आदि ग्रहों की स्थिति देखने के लिए पुराना पंचांग ही देखना अनुकूल है।

अब जब हम भिन्न-भिन्न नक्षत्रों के उदयास्तों की बात करेंगे तब क्षितिज पर उनके उदयास्त निश्चित रूप से कहाँ दिखाई देंगे, यह कह देना बहुत लाभदायक होगा। किन्तु नक्षत्रों के उदयास्तों के स्थान हर एक अंश के लिए कुछ भिन्न ही होते हैं। हिन्दुस्तान का विस्तार उत्तर गोलार्ध में छह अक्षांश से छत्तीस तक है। इस हिसाब से वर्धा इक्कीस अंश पर होने से हिन्दुस्तान के बिलकुल मध्य पर है। वर्धा का हिसाब अगर हम 'सर्वोदय' में दे दें तो हिन्दुस्तान में कहीं पर भी उसमें थोड़ा फ़र्क करने से हिसाब मिल जाएगा।

पृथ्वी पर जैसे अक्षांश-रेखांश होते हैं, वैसे आकाश में भी होते हैं। किन्तु हम उनसे काम नहीं लेंगे। व्यवहार में हर एक नक्षत्र या तारे की ऊँचाई जानना ही अधिक उपयोगी होता है। एक काफी बड़ा कार्ड-बोर्ड या लकड़ी का तख्ता लेकर उस पर वर्तुल पर घड़ी के जैसे एक से लेकर बारह तक अंक लिखे जाएँ। मिनट-मिनट की लकीर भी खींच कर वर्तुल का जहाँ केन्द्र हो (जहाँ घड़ी के काँटे लगाये

फैल गया। धनुष के दोनो छोर क्षितिज को छू रहे थे और पूरा धनुष अश्ववतुल-सा नीली राख जैसे बादल पर उभरा हुआ था।

सबसे पहले मेरा ध्यान उसके ऊपरी भाग पर गया, नीचे लटकती हुई उसकी जामुनी रंग की आडी पट्टी की ओर। इतनी सजीवता से निखरी हुई पट्टी हमेशा देखने को नही मिलती।

जब कभी पूरा इन्द्रधनुष देखने को मिलता है, सारा-का-सारा एक समान उभरा हुआ दिखाई नही पडता। आज के इन्द्रधनुष मे बादलो की पृष्ठभूमि अच्छी थी, इसलिए वह सारा-का-सारा एक समान उभरा हुआ था। निचले सिरो मे लाल और पीला रंग अधिक निखरा था। जरा-सा ऊपर आने पर हरा रंग ध्यान को अपनी ओर खीच लेता था। शायद इसका कारण यह था कि दक्षिणी छोर के इर्द-गिर्द पेडो का हरा रंग छाया हुआ था। वह इन्द्रधनुष के हरे रंग को खा जाता होगा और इसलिए उसका प्रतियोगी लाल और पडोसी पीला दोनो रंग अधिक खिले हुए होंगे। ऊपर के भाग मे ये तीनो रंग कुछ सौम्य हुए और जामुनी रंग का गहरापन बढा।

जिस तरह राम के साथ लक्ष्मण के और भगवान बुद्ध के साथ भिक्षु आनन्द के होने की आशा की जाती है उसी तरह इन्द्रधनुष के साथ उसके प्रतिधनुष को खोजने के लिए भी नजर दौडती है। धनुष के बाहर दोनो छोरों पर प्रतिधनुष के रंग उल्टे क्रम मे दिखलाई पडते थे। जितना भाग दीखता था उतना स्पष्ट था, परन्तु मूल धनुष का आकर्षण कम करने की शक्ति उसमे नही थी।

पुराने लोग लिख गये है कि धनुष निकले तो उसे देखने के लिए दूसरो को निमन्त्रण मत दो। इस सीख के पीछे हेतु क्या होगा, सो हमें नही मालूम। परन्तु सम्भव यह है कि हम धनुष देखने के लिए किसी को बुलाएँ और उसके आते-आते धनुष गायब हो जाये तो दोनो को हाथ मलकर रह जाना पडेगा। और यदि निमंत्रित व्यक्ति शकाशील हुआ तो उसे यह भी लग सकता है कि धनुष जैसी कोई चीज थी ही नही, मुझे झूठ-मूठ बुलाकर बनाया गया है।

आज के धनुष को लुप्त होने की उतावली नही थी। हमे उसे देर तक देखते रहे। उसका नशा चढता ही गया। इस प्रकार बहुत समय बीत गया और स्वाभाविक था कि इस बीच पहले देखे हुए अनेक सुन्दर धनुषो का स्मरण के साथ-साथ वर्णन भी होने लगा। परन्तु जितने प्रसग याद आये उन सभी का वर्णन कैसे हो सकता था?

प्रकृति के स्वामी ने इस तरह की रंगीन कमान क्यो खडी की होगी? यह कल्पना तो अनपढ आदमी के दिमाग मे भी उठती है कि भगवान ने स्वर्ग तक चढने के लिए यह सीढी खडी की है। और इस तरह का वर्णन देश-देशान्तर के कवियो ने भी किया है। इसमें आदिम मनुष्य स्वर्ग तक चढ सकता है या नहीं कौन

जाने ? लेकिन इतना तो सच है कि हमारी दृष्टि उसकी दोनों ओर से बार-बार चढ़ती-उतरती है और धन्यता महसूस करती है कि मैं एक पावन यात्रा कर रही हूँ।

थोड़ा समय बीता और धीमे-धीमे—एकदम मालूम न पड़े इतने धीमे इन्द्रधनुष थोड़ा उत्तर की ओर खिसकता जान पड़ा। इसका कारण क्या होगा ? बात इतनी ही थी कि पूर्व की ओर से चढ़ता हुआ सूर्य सहज दक्षिण की ओर ढल रहा था। फलतः इन्द्रधनुष अपना आसन उत्तर की ओर खींच रहा था। इसी अनुपात में धनुष की कमान नीचे दब रही होगी क्योंकि पूर्व की ओर सूर्य ऊपर चढ़ रहा था। परन्तु इस प्रकार का कोई फेरफार हमारी नजर मे नहीं आया।

बहुत देर तक हम धनुष की यह अद्भुत शोभा देखते रहे। बाद मे ऐसा लगा कि जब तक यह धनुष दिखाई देता है तब तक यहाँ से हटना नही चाहिए। इतना निश्चय किया ही था कि इसके रंग फीके पड़ने लगे। देखते-देखते वह गायब हो गया। सारा-का-सारा तो एकदम गायब नही हुआ, उसके रंग फीके होते गये। और जब वह बिलकुल गायब हो गया तब भी कल्पना 'तस्मिन एव आकाशे' उस धनुष को और उसके रंगों को देखती रही। मूल धनुष के बाद उसके स्थान पर यह जो काल्पनिक धनुष दिखाई देता है उसके रंग वही-के-वहीं होते हैं या प्रतियोगी होते हैं यह शंका उसी समय उठी होती तो कितना अच्छा होता।

इन्द्रधनुष तो गया, परन्तु उसकी खुशबू मन मे कायम रही। उसकी गूँज सारे दिन सुनाई पड़ती रही। उसका स्पर्श दीर्घकाल तक आह्लाद देता रहा। उसका संगीत दिमाग मे गूँजता रहा और उसका माधुर्य प्रत्येक स्मरण को रसपूर्ण बनाता रहा।

का परम आह्लाद, उसकी कोमलता, उसकी गाढ़ता और उसके कारण हृदय मे उत्पन्न होनेवाली गुदगुदी है, और वह तो सूर्य-किरणो के विश्लेषण से ही पैदा होती है। और जब हमे पता चलता कि आकाश के असख्य तारो की सूक्ष्म किरणो का पृथक्करण करने मे प्रत्येक का इन्द्रधनुष भिन्न-भिन्न प्रमाण का और भिन्न-भिन्न रगो का होता है, और जब हमें बताया जाता है कि ये भाँति-भाँति के रंग अपने-अपने तारे मे चाँदी, ताँबा, लोहा, सोना आदि जलती हुई धातुओ के कारण पैदा होते हैं, तो हमारी कल्पनाशक्ति दग रह जाती है। "विज्ञान काव्य को मार डालता है" कहनेवाले जानते नही कि विज्ञान के पास अपना कितना अद्भुत काव्य मौजूद है।

आज इन्द्रधनुष को देखते हुए मन मे विचार उठा कि इन्द्रधनुष देखने से मुझे जो आनन्द मिलता है, क्या वैसा ही या किसी अन्य प्रकार का आनन्द इस इन्द्रधनुष को भी होता होगा। मन मे कुछ विचार-मथन हुआ और तुरन्त उत्तर निकल पड़ा—"क्यो नही ?" मे समझ गया कि यह उत्तर आस्तिकता की ओर से मिला है और इसे प्रश्न-रूप देकर आस्तिकता अधिक मजबूत हुई है।

['उड़ते फूल' से]

प्राणदायी हवा

एक गाँव था। वहाँ के लोग बड़े ही भोले-भाले व भले थे। बुजुर्गों के वचन का आदर करते और वे कहते वैसा करते थे।

उस गाँव मे पुराने ... क बूढ़ा रहता था। हमेशा कहा करता: "हमन ... वह जितनी शरीर मे आए उतना ही ... हवा मानो शुद्ध प्राण है।"

... ज्यादा याद करने ... ः किया करते। ... र्गहिक पनेंद, ... आने से पेकर ... र की प्राणदायी हवा ... जिन हो वहाँ तक हम ... ी बराबर उमर मे ... द।" ... करने लगे। गाँव का

आपने देख लिया। अब मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या अब भी आप यह विवाह कराना चाहते हैं।

कन्यापक्ष का जो प्रधान पुरुष था, उसके चेहरे की ओर मैं देखता रहा। उसके मन में भारी उथल-पुथल मची हुई थी। उसके मुँह से न हाँ निकले न ना। और बापू तो अपनी विलक्षण भेदक दृष्टि से उसकी तरफ देखते ही रहे। खूब सोचकर उस आदमी ने कहा (उसका गला भर आया था) "महात्मा जी, आपकी बात सही है। हमारा आग्रह अब नही रहा।"

उसी क्षण बापू जी ने उस लडके को अन्दर बुलाया और कहा, 'तुम पर मैं बोझ नही डालना चाहता। इनसे मैंने बातचीत कर ली है। तुम इस विवाह सबंध से मुक्त हो। अब तुम जाओ।"

लडका चला गया। कन्यापक्ष के लोग भी वहाँ से उठे। बापू जी मेरी ओर मुडे। मेरी बात सुनने के पहले वे कहने लगे, "काका, आज मैंने गोरक्षा का काम किया। जब मैं गोरक्षा की बात करता हूँ, तब केवल चतुष्पाद जानवरो का ही ख्याल मेरे मन मे नही रहता। न जाने हम उस बेचारी बालिका का क्या करने बैठे थे। खैर, यह एक मगल-कार्य हो गया।"

इतना कहकर मेरे काम की ओर बापू जी ने ध्यान दिया। फिर भी उनके चेहरे पर मुक्ति का निःश्वास दीर्घ काल तक बना रहा।

['बापू की झाँकियाँ' से]

दीनबधु-मनन

आज पाँचवी अप्रैल है। एक स्नेही ने मुझे याद न दिलायी होती तो मुझे ख्याल नही आता कि दीनबधु एण्ड्रयूज का दिन है। लेकिन एण्ड्रयूज का स्मरण होने के बाद सारा दिन उन्ही के नजदीक मे तल्लीन होना स्वाभाविक था, अपरिहार्य था।

इंग्लैंड का एक श्रेष्ठ सुपुत्र हिन्दुस्तान की सेवा करते-करते बगाल मे, कलकत्ते मे आखिरी नीद के लिए सो गया। यह ख्याल मन मे उठते ही ऐसा एक दूसरा प्रसग तुरत याद आया। बगाल का एक सुपुत्र—नवभारत का निर्माता राजा राममोहन राय विलायत जाकर, दोनो देशो की सेवा करते-करते वहीं ब्रिस्टल मे सो गया। मानो दान और आदान समान हो गये।

राजा राममोहन राय और दीनबधु चार्ली एण्ड्रयूज दोनो ने, हिन्दुस्तान और इग्लैंड के द्वारा मानवता की उच्च कोटि की सेवा की है। मैंने राममोहन राय को

देखा नहीं था। किन्तु दीनबन्धु के साथ घनिष्ठ परिचय का सौभाग्य मुझे मिला था। इस देवतुल्य व्यक्ति का दर्शन जितना पावन और सात्त्विक था, वह उनके परिचय में आनेवाले सब लोग आज भी कह सकते हैं।

मिस्टर एण्ड्रयूज का जब प्रथम दर्शन हुआ तब मैं राष्ट्रीय आन्दोलन में पड़ा हुआ था। सब के सब मिशनरी लोग हमारे देश के, हमारे धर्म के, हमारी संस्कृति के और हमारे स्वराज्य के शत्रु हैं, यह ख्याल दिल में ऐसा बैठ गया था कि सत् कोशिश करने पर भी वह निकलता न था। इसका एक खास कारण भी था। मैंने एक बड़े नेता को ऐसे कहते सुना था कि "कोई मिशनरी अगर राजनीतिक क्षेत्र में हमारे बीच काम करे तो उससे मैं इतना नहीं डरता हूँ, उसकी मक्कारी तुरत पकड़ी जाती है। लेकिन जो पादरी लोग सचमुच धर्मनिष्ठ होते हैं, ईसा के भक्त होते हैं और शुद्ध सेवा-भाव से हमारे लोगों के बीच काम करते हैं, उनसे खतरा ज्यादा है। हमारी भोली और दुखी जनता उनसे प्रभावित होती है और उनके चंगुल में आ जाती है।"

इस वचन का मेरे मन पर इतना गहरा असर हुआ था कि मि. एण्ड्रयूज की पारदर्शक भलाई देखकर भी मैं उनसे दूर रहने लगा। उन दिनों मैं शान्तिनिकेतन में था। एक दिन जब गांधी जी शान्तिनिकेतन आये मैंने अपने दिल की बात मि. एण्ड्रयूज के बारे में गांधी जी से कह दी और कहा कि "चन्द बंगाली भी मेरी राय के हैं।"

गांधी जी ने अजीब ढंग आजमाया। हम शिक्षक इकट्ठा हुए थे। वहाँ एण्ड्रयूज को बुलाकर उनसे कहा, "देखो, इनमें से चन्द लोगों के ऐसे-ऐसे ख्याल हैं।"

बेचारे एण्ड्रयूज! उन्होंने सिर झुकाकर सब कुछ सुन लिया। मुझे बड़ी शर्म आयी। फिर गांधी जी की वाग्धारा चली। उन्होंने कहा, "चार्ली को मैं अच्छी तरह पहचानता हूँ। मानवता के पुजारी इनसे बढ़कर शायद ही कहीं मिल सकते हैं। अंग्रेजों का स्वभाव इनमें भी है। अपने अभिप्राय के जिद्दी हैं। अपने विचार औरों पर लादना इनके लिए स्वाभाविक है। आप इनके प्रभाव में आ गये तो उसमें इनका क्या दोष? ऐसे उदार हृदय के अंग्रेजों के साथ अगर हमारी जनता का सम्बन्ध आया तो उसका कल्याण ही होगा। चारित्र्य का ऊँचा ख्याल उन्हें मिलेगा।"

बेचारे एण्ड्रयूज ऐसे तो शरमा गये और हमें—हमें तो मनुष्य के प्रति देखने की नयी दृष्टि मिल गयी। मैं बाद में तो उनके अधिकाधिक नजदीक पहुँचने लगा और उनके चारित्र्य की खुशबू से मोहित हुआ।

मि. एण्ड्रयूज के भोले स्वभाव के बारे में, चीजें भूल जाने की उनकी आदत के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है। ऐसे स्वभाव के कारण भी वे अधिकाधिक प्यारे ही बनते थे। किसी की चीज माँगकर के ले ली, किसी को दे दी। जेब

पैसे हैं या नहीं, इसका ख्याल ही नही। हर एक को भला समझकर, हर एक पर विश्वास रखना और ठगे जाने पर हँस पड़ना, उनकी उच्च सेवा के ये स्वाभाविक अंश थे। मि. एण्ड्रयूज में जो कुछ भी श्रेष्ठता थी, ख्रिस्त भक्ति के कारण उनमें आयी थी। ख्रिस्ती धर्म के कई तत्त्वों के प्रति उनके मन में श्रद्धा नहीं थी। इसलिए कई सनातनी, रूढ़िवादी ख्रिस्ती लोग उन्हें नास्तिक कहते थे। उनके हाथों मि. एण्ड्रयूज ने बहुत कुछ सहन किया। सहन करके वे ऊँचे उठे।

अगर एक शब्द में इस सेवामूर्ति का वर्णन करना हो तो हम कह सकते हैं कि इस दीनबंधु में स्त्रीहृदय था, मातृहृदय था।

['स्वराज्य-संस्कृति के संतरी' से]

गीतांजलि : विश्वसाथे जोगे जेथाय विहारो

चार बच्चों की माँ को एक अनुभव हमेशा होता रहता है। हर एक बच्चा कहता है कि माँ मेरी है। फिर वह बच्चे आपस में झगड़ने लगते हैं और कहते हैं, "माँ तेरी नहीं, मेरी ही है।" प्रेम का ही झगड़ा होता है वह। उसका फैसला मारपीट से थोड़े ही किया जाता है? आखिर लड़के माँ के पास जाकर पूछते हैं—सच कहो माँ, बिलकुल सही-सही बताओ, तुम किसकी हो? माँ अगर माँ न होती तो चिढ़कर कहती, "मैं किसी की नहीं हूँ, निकल जाओ।" लेकिन माँ प्रेम से हँसकर जवाब देती है, "अरे, मैं तो सब की हूँ, किसी एक की नहीं हूँ, ऐसा कभी हो सकता है?" चन्द लड़के यह जवाब सुनकर मायूस हो जाते हैं। लेकिन कुछ समझदार लड़के देखते हैं कि माँ का कहना यथार्थ है और कहते हैं—माँ सभी की, सभों की, इसीलिए मेरी माँ तेरी, मेरी, सभी की। तेरी, मेरी, सभी की।

माँ अपने भाई की हो जाने से उतनी मात्रा में अपनी कम हो गयी, ऐसी सङ्कुचित दृष्टि जब तक थी तब तक झगड़ा था। माँ के जवाब से बच्चों की जीवन-दृष्टि ही पलट गयी। उनको मालूम हो गया कि माँ अपने भाइयों की है इसलिए अपनी कम नहीं होती। वह सबकी है, इसीलिए अपनी भी है।

चन्द भक्त और चन्द जातियाँ ईश्वर का सारा ठेका अपने ही पास रहे ऐसी कोशिश पहले करते हैं युग-युग से करते रहे हैं। लेकिन जब भगवान का स्वरूप उनकी समझ में आता है तब उन्हें यकीन होता है कि ईश्वर अगर सबका न हो, तो अपना हो ही नहीं सकता। ईश्वर का यथार्थ स्वरूप समझने पर उसका और अपना संबंध भी शुद्ध रूप से ध्यान में आता है और उसी से असाधारण आनन्द की प्राप्ति होने लगती है। ईश्वर का यह सच्चा स्वरूप और ईश्वर के

गान का अपना सर्वसाधारण संबंध ध्यान मे आ जाने पर कवि ईश्वर के प्रति अपना आनन्द गान गाने लगता है।

तुम सबके हो इस बात का मुझे जहाँ साक्षात्कार हुआ वहीं पर तुम्हारा दर्शन मुझे होने दो। तुम जहाँ सबको आलिंगन देते हो, वहीं पर मेरे हृदय मे भक्ति का उदय होने दो।

—विश्वसाथे जोगे जेथाय विहारो
सेइखाने जोग तोमार साथे आमारो।
नयको वने, नय विजने,
नयको आमार आपन मने,
सबार जेथाय आपन तुमि हे प्रिय
सेथाय आपन आमारो।
सबार पाने जेथाय बाहु पसारो
सेइखानेतेइ प्रेम जागिबे आमारो।
गोपने प्रेम रय ना घरे,
आलोर मतो छड़िये पड़े
सबार तुमि आनन्दघन हे प्रिय,
आनन्द सेइ आमारो।

—"हे सर्वांतर्यामी सर्वेश्वर, इस विश्व के साथ संकलित होकर जहाँ तुम विहार करते हो, वही पर तुम्हारा-मेरा परिचय हो, तुम्हारा-मेरा संबंध बँध जाए।"

"मैं तुम्हे वन मे देखना नही चाहता, विजन मे पहचानना नही चाहता। मेरे अपने मन मे और अन्तःकरण में तुम्हारा साक्षात्कार हो जाए यह भी मेरी अभिलाषा नही है। लेकिन हे प्रिय, तुम जहाँ सबके आत्मीय बनते हो वही पर तुम मेरे भी आत्मीय बनो, इतनी ही मेरी चाह है।"

"जहाँ तुम सबको प्रेम पाश में लेने के लिए अपनी भुजाएँ फैलाते हो उसी क्षण, उसी स्थान पर मेरी भी भक्ति जाग उठे, उमड़ उठे, यही अब मेरी कामना है। अपना प्रेम—मेरी भक्ति और तुम्हारा वात्सल्य भाव—अब एकांत मे छिपकर नही रहेगा। प्रकाश जिस तरह सर्वत्र फैलता रहता है, उसी तरह अपना यह प्रेम-संबंध भी अनन्त तक प्रकाशित होता रहेगा। हे प्रिय, तुम सब के आनन्दघन हो, यही खुशी की बात है। तुम सबके आनन्द रमण हो, इसी में मुझे आनन्द है। हे मेरे हृदय-संतोष, तुमको पहचान लेने से ही मेरा हृदय विराट बना हुआ है। अब मैं तुम्हें कौन-से कोने में देखूँ? कहीं कोई कोना ही नही रहा। सर्वत्र अनन्त ही है।"

['युगमूर्ति रवीन्द्रनाथ' से]

काका साहब कालेलकर

ग्रंथ-सूची

गुजराती

स्वदेशी धर्म, 1920
कालेलकरना लेखो, भाग-1, 1923
गामडामां जईने शुकरीशु, 1923
पूर्वरंग (श्री नरहरि परीख के साथ), 1923
हिमालयनो प्रवास, 1924
कालेलकरना लेखो, भाग-2, 1925
ओतराती दीवालो, 1925
करडिया, बेकरी
ब्रह्मदेशनो प्रवास, 1931
जीवता तहेवारो, 1934
लोकमाता, 1934
स्मरण-यात्रा, 1934
जीवननो आनन्द, 1936
जीवन-विकास, 1936
जीवन-भारती, 1937
जीवन संस्कृति, 1939
सद्बोध शतकम्, 1941
मानवी खंडियेरो, (गेरी बरजेस के 'टू काम अलोन' का
श्री कि. घ. मशरूवाला के साथ किया गया अनुवाद), 1946
गीतासार, 1947
श्रीनेत्रमणिभाई ने, 1947
पूर्व आफ्रीका मां, 1951
धर्मोदय, 1952
रखडवानो आनन्द, 1953
जीवन लीला ('लोकमाता' की परिवर्धित आवृत्ति), 1956
जीवन प्रदीप, 1956
अवारनवार, 1956
मधुसंचय, 1957
उगमणो देश, आसाम 1958
चिरंजीव चन्दन ने, 1958

भाव का अपना सर्वसाधारण संबंध ध्यान में आ जाने पर कवि ईश्वर के प्रति अपना आनन्द गान गाने लगता है।

तुम सबके हो इस बात का मुझे जहाँ साक्षात्कार हुआ वहीं पर तुम्हारा संग मुझे होने दो। तुम जहाँ सबको आलिंगन देते हो, वहीं पर मेरे हृदय में भक्ति का उदय होने दो।

—विश्वसाथे योगे येथाय विहारो
सेइखाने योग तोमार साथे आमारो।
नयको वने, नय विजने,
नयको आमार आपन मने,
सबार येथाय आपन तुमि हे प्रिय
सेथाय आपन आमारो।
सबार पाने येथाय बाहु पसारो
सेइखानेतेइ प्रेम जागिबे आमारो।
गोपने प्रेम रय ना घरे,
आलोर मतो छड़िये पड़े
सबार तुमि आनन्दघन हे प्रिय,
आनन्द सेइ आमारो।

—"हे सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर, इस विश्व के साथ संकलित होकर जहाँ तुम विहार करते हो, वहीं पर तुम्हारा-मेरा परिचय हो, तुम्हारा-मेरा संबंध बंध जाए।"

"मैं तुम्हें वन में देखना नहीं चाहता, विजन में पहचानना नहीं चाहता। मेरे अपने मन में और अन्तःकरण में तुम्हारा साक्षात्कार हो जाए यह भी मेरी अभिलाषा नहीं है। लेकिन हे प्रिय, तुम जहाँ सबके आत्मीय बनते हो वहाँ पर तुम मेरे भी आत्मीय बनो, इतनी ही मेरी चाह है।"

"जहाँ तुम सबको प्रेम पाश में लेने के लिए अपनी भुजाएँ
सन, उसी स्थान पर मेरी भी भक्ति जाग उठे, उमड़ उठे, यही अब
है। अपना प्रेम—मेरी भक्ति और तुम्हारा वात्सल्य भाव—अब
कर नहीं रहेगा। प्रकाश जिस तरह सर्वत्र फैलता रहता है,
प्रेम-संबंध भी अनन्त तक प्रकाशित होता रहेगा। हे प्रिय,
हो, यही खुशी की बात है। तुम सबके आनन्द स्वरूप हो,
मेरे हृदय-संतोष, तुमको पहचान लेने से ही मेरा हृदय
तुम्हें कौन-से कोने में देखूँ? कहीं कोई कोना ही नहीं

हिमालय निवासियों से, 1954
जीवन-साहित्य, 1955
लोक-जीवन, 1955
जीवन संस्कृति की बुनियाद, 1955
नक्षत्र माला, 1958
गांधी जी की अध्यात्म-साधना, 1959
स्वराज्य-भाषा, 1959
सदबोध शतकम्, 1961
कठोर कृपा, 1961
गीता-रत्न-प्रभा, 1961
आश्रम-संहिता, 1962
प्रजा का राज प्रजा की भाषा में, 1962
उड़ते फूल, 1964
यात्रा का आनन्द, 1965
समन्वय, 1965
सत्याग्रह-विचार और युद्ध-नीति, 1965
परमसखा मृत्यु, 1966
शान्तिसेना और विश्वशान्ति, 1966
समन्वय संस्कृति की ओर, 1967
गीता के प्रेरक तत्त्व, 1967
राष्ट्रभारती हिन्दी का प्रश्न, 1967
युगमूर्ति रवीन्द्रनाथ, 1969
जीवन-योग की साधना, 1969
विनोबा और सर्वोदय क्रांति, 1970
गांधी-युग के जलते चिराग, 1970
गांधी चरित्र कीर्तन, 1970
गांधी जी का जीवन दर्शन 1970
गांधी जी का रचनात्मक क्रांतिशास्त्र (दो खण्डों में), 1971
नवभारत के चन्द निर्माता, 1972
युगानुकूल हिन्दू जीवन-दृष्टि, 1972
स्वराज्य संस्कृति के संतरी, 1973
प्रकृति का संगीत, 1976
ईशावास्य उपनिषद्, 1976
उपनिषदों का बोध, 1977

सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

संस्कृति के परिव्राजक (1965)	(सं०) श्री मन्नारायण आदि
समन्वय के साधक (1979)	(सं०) यशपाल जैन आदि
हिमालय की यात्रा (1924)	काका कालेलकर
स्वाधीनता-संग्राम	विष्णु प्रभाकर
भारतीय संविधान	
सबकी बोली (मासिक हिन्दी) जनवरी से अप्रैल, 1940	(सं०) काका कालेलकर
ज्योतिपुंज हिमालय	विष्णु प्रभाकर
गांधी युग के जलते चिराग	काका कालेलकर
मंगल प्रभात, 1981	,,
उड़ते फूल	,,
बापू की झाँकियाँ	,,
कठोर कृपा	,,
जीवन साहित्य (प्रथम भाग)	,,
जीवन साहित्य (दूसरा भाग)	,,
युगमूर्ति रवीन्द्रनाथ	,,
स्वराज्य संस्कृति के संतरी	,,
चिरजीव चन्दनने	,,
परमसखा मृत्यु	,,

सहायक व्यक्ति

डॉ. सतीश कालेलकर	काका साहब के बड़े बेटे
सरोजिनी नानावटी	काका साहब की मुँहबोली बेटी और सचिव
रवीन्द्र केलेकर	कोंकणी के प्रसिद्ध लेखक और काका साहब के नवयुवक साथी
कु. कुसुम शाह	काका साहब की सहायिका

चिंतनिका
साहित्य—एक कला और जीवन दर्शन,
नवसृजन की गांधी नीति
अहिंसा की जीवन-दृष्टि
गांधी जी के जीवन सिद्धात
महावीर का जीवन संदेश, 1982
महाराष्ट्र के संत, 1984

मराठी

स्वामी रामतीर्थ · जीवन चरित्र, 1907 (श्री गुणाजी के साथ)
गीतेचें समाज रचना शास्त्र, 1933
हिंडलग्याचा प्रसाद, 1934
साहित्यचें मूलधन, 1938
वन शोभा, 1944
सप्रेम वन्देमातरम्, 1947
साहित्याची कामगिरी, 1948
स्मरण-यात्रा, 1949
मृगजलातील मोती (जिब्रान), 1951
मालंच (रवीन्द्रनाथ), 1952
लोक जीवन, 1952
रवीन्द्र प्रतिभेचे कोंवले किरण, 1955
पुण्यभूमि गोमंतक, 1958
रवीन्द्र मनन, 1958
रवीन्द्र वीणा, 1961
रवीन्द्र झंकार, 1962
सोमवार पानें, 1964
भारत दर्शन भाग 1, 2, 3, (क्रमशः 1965, 66 एवं 67)
संत मानस तुकाराम, 1967
भारत दर्शन, भाग-4, 1967
नैवेद्य 1968
भारत दर्शन, भाग-5, 1968
भारत दर्शन, भाग-6, 1970
भारत दर्शन, भाग 7, ([illegible]), 1970
[illegible] 1973

सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

संस्कृति के परिव्राजक (1965)	(सं०) श्री मन्नारायण आदि
समन्वय के साधक (1979)	(सं०) यशपाल जैन आदि
हिमालय की यात्रा (1924)	काका कालेलकर
स्वाधीनता-संग्राम	विष्णु प्रभाकर
भारतीय संविधान	
सबकी बोली (मासिक हिन्दी)	(सं०) काका कालेलकर
जनवरी से अप्रैल, 1940	
ज्योतिपुंज हिमालय	विष्णु प्रभाकर
गांधी युग के जलते चिराग	काका कालेलकर
मंगल प्रभात, 1981	"
उड़ते फूल	"
बापू की झांकियां	"
कठोर कृपा	"
जीवन साहित्य (प्रथम भाग)	"
जीवन साहित्य (दूसरा भाग)	"
युगमूर्ति रवीन्द्रनाथ	"
स्वराज्य संस्कृति के संतरी	"
चिरजीव चन्दनले	"
	"